गीता की कला

१—कलायोग

२—मंगलमार्ग योग

३—राजविद्या योग

दीनानाथ दिनेश

मई १९६९ का द्वितीय उपहार

गीता का कलायोग

लेखक—

गीता वाचस्पति म० दीनानाथ भार्गव दिनेश

प्रकाशक—

मानवधर्म कार्यालय, ६७१३, दरियागंज, दिल्ली

मुद्रक—

श्री हरिगीता प्रेस, दिल्ली

वार्षिक मूल्य १०) इस अंक का मूल्य ८)

वार्षिक ग्राहकों को एक वर्ष में चार ग्रन्थ प्राप्त होंगे।

कृपया १०) वार्षिक शुल्क भेजकर, मानवधर्म माला के सदस्य बनिये और हमारे जीवनोपयोगी साहित्य का स्वाध्याय करिये।

अपने प्रियजनों, परिजनों और साथियों को मानवधर्म माला के प्रकाशन उपहार में दीजिये।

कम से कम दो-दो नये ग्राहक बनाकर आप मानवधर्म प्रकाशन के साहित्य-सेवा यज्ञ में सम्मिलित होंगे—ऐसी हमें आपसे आशा है।

मानवधर्म कार्यालय

६७१३ दरियागंज दिल्ली फोन २७५४१३

मानवधर्म का कलायोग अङ्क

मानवधर्म के इस अंक में गीता के तीन अध्याय हैं। इससे पहले हमने 'गीता की चेतना' नाम से ४, ५, ६ अध्याय पाठकों की सेवा समर्पित किये थे। अब हम ७, ८, ९ अध्यायों की कला सादर भेंट कर रहे हैं।

गत चेतनाअंक का मूल्य ५) था। गीता के इस कलाअंक का मूल्य ८) है। अब तक १३) की दो पुस्तकें पाठकों के पास पहुँच चुकी हैं।

हमारे आधार कार्यकर्ता श्रीरामकिशोर जी के स्वर्गारोहण के पश्चात 'मानवधर्म' का प्रकाशन संकटों से घिर गया है। प्रबन्ध-सम्बन्धी साधन, अर्थ-समस्या, ग्राहकों की प्राप्ति में कठिनाई आदि से हमारी उलझनें बहुत बढ़ गई हैं, बीच में रखना या पार पहुँचाना परमात्मा के हाथ में है।

यदि हम आगे का ग्रन्थ समय पर न निकाल पाये तो पाठक इन दो ग्रन्थों को पाकर ही सन्तोष करें। यथासम्भव हम हार्दिक सेवा में तत्पर रहेंगे।

मानवधर्म के गत वर्षों में प्रकाशित हुए विशेषांकों में से पाठक जो भी अंक चाहें वे इन अंकों के बदले प्राप्त कर सकते हैं। जिनका १०) वार्षिक शुल्क हमारे पास आया हुआ है वे कोई से भी चार अंक कार्यालय से किसी भी समय प्राप्त कर सकते हैं। जिनके पास ये दो अंक पहुँच गये हैं वे दो अंक और ले सकते हैं और जो इन दो अंकों को न लेना चाहें वे कोई से चार विशेषांक ले सकते हैं।

१०) भेजने वालों को चार-चार रुपये के चार अङ्क मिलने की सुविधा केवल इसी वर्ष (१९६९) के लिये ही दी गई है।

आशा है हमें पाठकों का सहयोग प्राप्त होगा।

सधन्यवाद,

भवदीय—

दीनानाथ दिनेश

मानवधर्म कार्यालय
६७।३ दरियागंज, दिल्ली
फोन २७५४१३

गीता की कला

गीता की कला स्वयं में पूर्ण है। उसे किसी ज्ञान, विज्ञान, योग या सद्योग की न उपेक्षा है न अपेक्षा।

कला जीवन की परिपूर्णता है और परमात्मा की सम्पूर्णता। परमात्मा कलाकार है, अतः सर्व है, सर्वज्ञ है। कला को पूर्णयोग, भागवत-योग या कृष्णयोग भी कह सकते हैं। लौकिक अर्थों में कला ही विज्ञान है। विज्ञान भौतिकयोग है, कला आध्यात्मिक योग है। विज्ञान से रहन-सहन, व्यवहार और व्यापार के उत्कृष्ट साधन सुलभ होते हैं। कला से दिव्य कर्म, परमार्थ, आत्मानन्द और परमात्मा का साक्षात्कार सुलभ होता है। विज्ञान की पूर्णता, खोज, तत्परता, ज्ञान और अथक श्रम पर निर्भर है। कला की पूर्णता केवल भगवान में है और एकमात्र भगवान पर निर्भर है। परमार्थपूर्ण विज्ञान कला का रूप ले सकता है।

गीता में जीवन की कला है, कर्म की कुशलता है और परमात्मा को पाने का ज्ञान-विज्ञान है।

गीता के इस कलायोग का प्रारम्भ करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

विज्ञानयुत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में।
जो जान कर कुछ जानना रहता नहीं संसार में॥

—गीता ७।२

मेरे प्रिय पार्थ! मैं तुम्हें ऐसे प्रेरणात्मक, विधानात्मक, रचनात्मक और व्यावहारिक तथा पारमार्थिक कलायोग का ज्ञान देता हूँ जिसे जान लेने पर संसार में कुछ जानना नहीं रहता—परिपूर्णता स्वयं आकर मिलती है।

संसार के, परिवार के, आसपास के साथी-संगी आदि क्या कहेंगे? इस विचार से कर्म करने को व्यवहार कहते हैं। भगवान् क्या कहेंगे? इस ध्यान से कर्म करने को परमार्थ कहते हैं।

गीता के कलायोग में व्यवहार और परमार्थ दोनों का महायोग है— प्रियजन और परिजन भी प्रसन्नता से अच्छा कहें और भगवान भी अच्छा कहें, ऐसे कर्म करने का एक दिव्यमार्ग है। इसी को राजविद्या या राजयोग कहते हैं।

गीता के कलायोग की पूर्णता उपासना में निवास करती है। कलापूर्ण जीवन का अर्थ है उपासनामय जीवन। कला में जब उपासना नहीं रहती तब उसे वासना घेर लेती है।

उपासना का प्रथम अंग है प्रार्थना। श्रीकृष्ण ने अपनी अलौकिक-शक्ति, ऐश्वर्य, रस, आनन्द और व्यापकता का परिचय देते हुए अपने प्रिय पार्थ से कहा—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
यह त्रिगुणदैवी घोरमाया अगम और अपार है।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है॥

—गीता ७।१४

मेरे आत्मस्वरूप अर्जुन! गुणमयी माया का पार पाना बहुत कठिन है परन्तु जो उपासना से, प्रार्थना से, वन्दना और अर्चना से मुझे पकड़ लेते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं।

परमात्मा को पकड़ने के लिये केवल मौखिक, शाब्दिक या भौतिक प्रार्थना प्रर्याप्त नहीं होती। हृदय से, अन्त:करण से या आत्मा से निकली हुई प्रार्थना योगकला बनकर उसे रिझा लेती है।

प्रार्थना जब बुद्धि को पकड़ लेती है या बुद्धि में जब प्रार्थना का योग हो जाता है तब मनुष्य में अलौकिक तेज तथा प्रतिभा प्रकट होती है। प्रार्थना जब प्राणों को पकड़ लेती है या प्राण जब प्रार्थना के साथ धड़कते हैं, तब प्रार्थी में निर्भयता, साहस, वीर्य, शौर्य, पराक्रम और दिव्य शक्तियों का प्रकटीकरण होता है। प्रार्थना जब अन्त:करण से निकलती है तब एक सक्रिय, उद्वेगरहित शान्ति अथवा मानसिक शीतलता का अनुभव होता है। प्रार्थनाजनित शान्ति अपने को तथा दूसरों को शान्ताकार बना देती है।

एक रहस्य यह है कि प्रार्थना जब हृदय को छूती और गुदगुदाती है तब विस्मय, रोमाँच, ब्रह्मानन्द और निजानन्द मिलने के साथ-साथ हृदय द्रवीभूत होकर आँखों से वह निकलता है।

प्रार्थना से जब निष्ठा दृढ़ हो जाती है और एकाग्रता सध जाती है तब संसार की कोई भी बाधा, विघ्न, परिस्थिति, पीड़ा या कष्ट का प्रभाव नहीं पड़ता और एक अलौकिक शक्ति तन-मन में खेलती रहती है।

श्रीकृष्ण ने इसी निष्ठा और एकाग्रता की शक्ति से बड़े-बड़े आश्चर्य-जनक, अद्भुत, रहस्यमय और लीलामय कर्म किये।

प्रार्थना के बिना कोई महान नहीं बन सकता और प्रार्थना वही है जो अपने इष्ट, गुरुदेव भगवान के सम्मुख की जाती है। गीता के कलायोग में प्रार्थना द्वारा जब निमग्नता आ जाती है तब सम्यक्ज्ञान, दर्शन और मिलन स्वयं सुलभ हो जाता है—समय और प्रयत्न की बाधा नहीं रहती।

प्रार्थना की पूर्णता प्रार्थना करने वाले की चेतना की अवस्था पर निर्भर है। प्रार्थना करते-करते जब आराध्य में आत्म-रमण होने लगता है तब सत्त्व स्वतः सम्मुख रहता है। प्रार्थना में आराध्य का भाव जब आता है तब सात्त्विकता सुलभ होती है और सत्त्वसंशुद्धि होने लगती है।

गीता के कलायोग, मंगलमार्गयोग और राजविद्यायोग इन तीन अध्यायों में उपासना के साधन हैं, समर्पण का आदेश है और अन्त में कहा गया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
मुझमें लगा मन, भक्त बन! कर यजन पूजन वन्दना।
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त आत्मा को बना॥

—गीता ९।३४

गीता का कलायोग मानवधर्म के पाठकों की सेवा में सादर समर्पित है, आशा है पाठक स्वीकार करके इसके प्रसार में अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करेंगे।

—०—

श्लोक, पदच्छेद, शब्दार्थ, पद्यानुवाद और सरल अर्थ सहित
श्रीमद्भगवद्गीता का रचनात्मक भाष्य

अध्याय

७ ८ ९

ज्ञान-विज्ञान-योग, मङ्गलमार्ग-योग, राजविद्या-रहस्ययोग

भाष्यकार—
श्रीहरिगीता, गीता के सप्तस्वर, उपनिषद् ज्ञान आदि ग्रन्थों के यशस्वी लेखक
व्याख्यानवाचस्पति श्री म० दीनानाथ भार्गव दिनेश

विजय दशमी सं० २०२२

प्रकाशक—मानवधर्म कार्यालय, दिल्ली।
मुद्रक—जमना प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली।

मूल्य आठ रुपया

अखिल भारतीय रेडियो दिल्ली से

गीताज्ञान की समालोचना

[श्री प्रो० गुलाबराय एम. ए.]

"दिनेश की टीका में पदान्वय के साथ पदार्थ देकर प्रत्येक श्लोक का पद्यानुवाद दिया गया है, जो बड़ा सरस और प्रवाहमय है, साथ ही वह मूल के भाव की रक्षा भी करता है। पद्यानुवाद के पश्चात् सरल भाषा में अर्थ और व्याख्या दी गई है। इस व्याख्या की विशेषता यह है कि यह शास्त्र का आधार लेकर चली है किन्तु दुरूह नहीं होने पाई है। इसमें गीता के श्लोकों की संगति महाभारत के अन्यस्थलों तथा स्वयं गीता से लगाई गई है। गीता के प्रतिपादित सिद्धान्तों को वेदों उपनिषदों तुलसीकृत रामायण आदि ग्रन्थों से पुष्ट किया गया है। टीकाकार ने यत्र-तत्र अन्तकथायें देकर अर्थ-बोध में सुगमता उत्पन्न कर दी है। इस टीका में विभिन्न स्थलों में 'शांकर-भाष्य' 'तिलक-भाष्य' 'ज्ञानेश्वरी' आदि प्रामाणिक भाष्यों का भी आश्रय लेकर अर्थ भेदों को स्पष्ट किया गया है।'

●

कल्याण

[गीता प्रेस गोरखपुर]

श्री दिनेश जी की गीता की व्याख्या सर्व-साधारण के काम की वस्तु है...शैली में नवीनता और रोचकता है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक कल्याण

लोकमत

प्रातःस्मरणीय महामना श्री पं० मदनमोहन जी मालवीय

आपका कार्य बहुत उत्तम है। इसकी बहुत आवश्यकता है कि धर्म के ज्ञान का प्रचार जहाँ तक हो सके किया जाय। संसार में धर्म से परे कोई वस्तु नहीं है। —मदनमोहन मालवीय

●

गण-तन्त्र भारत के राष्ट्रपति श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद जी

पं० दीनानाथ दिनेश की लिखी हुई पुस्तकें और उनका कार्य देखकर मुझे विशेष आनन्द और सन्तोष हुआ।

धर्म की सेवा और सत्साहित्य के प्रचार का जो मार्ग दिनेश जी ने चुना है वह सराहनीय है। रेडियो द्वारा गीता प्रवचनों, जन-समूह में व्याख्यानों, कथाओं, पुस्तकों के लेखन एवं प्रकाशन और 'मानवधर्म' के सम्पादन से दिनेश जी देश और धर्म की सच्ची सेवा कर रहे हैं।

'मानवधर्म कार्यालय' के कुछ प्रकाशन मैंने देखे, उनमे जीवन के विकास और चरित्र-निर्माण के लिये बड़े काम की सामग्री रहती है।

मै 'मानवधर्म कार्यालय' की अभिवृद्धि और उन्नति चाहता हूँ।

[signature]

सम्माननीय श्री ग. वा. मावलंकर अध्यक्ष केन्द्रीय धारा सभा

श्री दिनेश जी का गीता का भाष्य स्वराज्य में ज्ञान और कर्म की प्रेरणा देने के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

ग. मावलंकर

सम्माननीय श्री डा० पट्टाभि सीतारमय्या
[अध्यक्ष ऑलइण्डिया कांग्रेस कमेटी]

.........It is a real education in this era of degenerate tastes to come across a poet, author and speaker like Pandit Dinesh who has published twenty-two volumes relating to ancient culture including a melodious and poetical rendering of the Gita in Harigit style. One must only hear him recite in original and in translation the song of the Lord and expound it in his own inimitable way, to have a correct conception of his attainments and to lose oneself in transports of ecstacy.

It is with added joy that I learn he has already completed ......volumes of his commentary on the Gita which will undoubtedly prove to be the crowning glory of the series of his publications under the denomination of the MANAVA DHARMA KARYALAYA.

This author has not merely a bright but a noble future before him—bright because of his rich talents and noble because of his selfless services.

B. Pttabhi Sitaramayya
President
Indian National Congress.

20-12-49

सम्माननीय श्री जगजीवनराम लेवर मिनिस्टर

'मानवधर्म कार्यालय' से प्रकाशित ग्रन्थों को देखने का अवसर मुझे मिला है। 'मानवधर्म' मासिक-पत्र को भी मैंने देखा है। इस कार्यालय के संस्थापक पं० दीनानाथजी दिनेश ने 'पुस्तकों तथा पत्रिका' द्वारा आज के युगधर्म की प्रासंगिक व्याख्या की है तथा उसके प्रचार और प्रसार में संलग्न है।

'गीताज्ञान' नामक पुस्तक में उन्होंने गीता-तत्त्व को सुगम और सरल भाषा में समझाया है। रेडियो द्वारा उन्होंने गीताज्ञान का काफी प्रचार किया है।

विचारों की पुष्पांजलि

एक बार धर्मराज युधिष्ठिर से एक सरोवर के किनारे यक्ष ने कुछ जीवन-सम्बन्धी गहन और व्यावहारिक प्रश्न किये थे। यक्ष ने अपने एक प्रश्न में पूछा—

'किं स्विदेकपद धर्म्यम् ।'

एक शब्द में धर्माचरण क्या है?

इस प्रश्न के अनेक उत्तर मिलते हैं। जगत् में प्रायः इसी प्रश्न पर वाद-विवाद होता है। सब कुछ करके भी धर्माचरण के लिये कुछ करना रह जाता है। जितना गहन और उपयोगी यह प्रश्न है उतना ही सारगर्भित और अगाध युधिष्ठिर का उत्तर है—

'दाक्ष्यमेकपद धर्म्यम् ।'

'कुशलता ही एक शब्द में धर्माचरण है।'

गीता में धर्माचरण को योग कहा है। 'योग कर्मसु कौशलम्' कुशलता पूर्वक विचार कर कर्म करने का नाम योग है। कुशल व्यक्ति सबसे अधिक उन्नति करता है। जीवन का सर्वोत्तम व्रत यही है कि मनुष्य सब प्रकार विचार कर कर्म करे। सम्पूर्ण धर्म और ज्ञान का रहस्य विचारों में है। विचारों से मन निर्मल रहता है, आत्मा सजग रहता है और मस्तिष्क परिष्कृत हो जाता है। विचारवान् को प्रश्नों की झोली लेकर कहीं भटकना नहीं पड़ता।

परमेश्वर क्या है? जगत् की रचना क्यों हुई? मृत्यु के पश्चात् क्या होगा? आदि शुष्क और बोझल प्रश्नों का उत्तर विचारवान् अपने कर्मशील और निष्पाप जीवन से पाता है। मनुष्य का विशुद्ध दर्शन परमेश्वर का दर्शन है, मनुष्य का विराट् तथा चेतन

जीवन परमेश्वर के अस्तित्व का महान् सत्य है। पुरुष को पुरुषोत्तम-पद प्राप्त कराने के लिये यह जगत् है। जगत् में जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं और उस परम प्रकाशक तथा सदा सहायक प्रभु का साक्षात् अनुभव होता है जो जीव को पतन के गर्त्त में गिरने से रोककर ऋृत और सत्य की ओर ले जाता है।

ऋृत और सत्य ईश्वरीय और प्राकृतिक नियम हैं। चराचर जगत् इन्हीं नियमों से स्थित है। इन नियमों के अनुसार आचरण करने का नाम जीवन और इनके विपरीत चलने का नाम मृत्यु है। देवता ऋृत और सत्य के मार्ग पर चलकर अमर होगये हैं, मनुष्य उस मार्ग पर न चलने के कारण बार-बार मरता है और मृत्यु के पाशों में जकड़ा हुआ दुःख रूप नरक में पड़ता है।

मनुष्य को इतना ही जानना है कि कुटिल जीवन का नाम मृत्यु और सरल तथा निर्मल जीवन का नाम अमृत ब्रह्मपद है।

मनुष्य का जीवन सुख का स्रोत है। दुरितों से यह स्रोत रुक जाता है और जीवन में प्रवाह नहीं रहता। शिथिल, प्रगति-हीन और निस्तेज होकर जीना केवल सिसकते हुए साँस लेना है, उसमें जीवन-तत्त्व नहीं होता।

जिस सत्य से सारा संसार ओतप्रोत है, जिसके टूटते ही जीव, तारे की भांति टूट कर गिर जाता है; उस सत्य के जाने बिना जीवन सार्थक नहीं होता। गीता का ज्ञान-विज्ञान-योग मनुष्य को इसी सत्य का दर्शन कराता है और उसे ऐसे मार्ग पर चलाता है जहाँ प्रकाश ही प्रकाश है।

इस जगत् में प्रकाश और अंधेरा, अमृत और मृत्यु साथ-साथ रहते हैं। विचारवान् अथवा ज्ञानीजन अमृत को ग्रहण करते हैं और अविवेकीजन मृत्यु को पकड़ते हैं। भय और अंधकार के पक्ष

मे रहनेवाले मङ्गल-मार्ग पर पैर नहीं रखते। उनके लिये संसार मे सर्वत्र मृत्यु रहती है, वे दिन और ज्योति से दूर रहते है।

दिन, प्रकाश, ज्योति और शुक्ल पक्ष सजग जीवन के चिह्न है। रात, अंधेरा, धुआँ और कृष्ण पक्ष कर्महीन आलसी तथा निस्तेज जीवन के चिह्न है। एक मुक्ति और दूसरा आवागमन देनेवाला मार्ग है।

विचारशील नर-नारी शब्दों के व्यूह को तोड़कर अर्थों की गहराई तक पहुँचते हैं। वे ज्ञान के भार से दबे नहीं रहते वरन् उसके रहस्य को जानकर पार उतर जाते है।

ईश्वर, मुक्ति और भुक्ति का रहस्य गीता का ज्ञान-विज्ञान-योग है, ज्ञान सहित कर्म करना गीता का मगल-मार्ग है और नित्य ब्रह्म मे विहार गीता का राजविद्या-योग है। राजविद्या के रहस्य को जानकर संसार मे कुछ जानना नहीं रहता।

श्रद्धावान् और पाप-रहित हृदय मे जिज्ञासा उठती है। जिज्ञासा के चरणों मे जीवन को चढ़ा देनेवाले राजविद्या की थाह पा लेते है।

संसारी पुरुष अपने मिथ्या ज्ञान, अभिमान और दम्भ से जिज्ञासा का गला घोट देते हैं। इस जगत् मे अज्ञानी होकर ज्ञान का ढिढोरा पीटनेवालों से वह अज्ञानी कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं जो अपनी अज्ञानता स्वीकार करके दैवी प्रकृति का सहारा लेकर परमेश्वर की ओर बढता है। परमेश्वर सत्य, शिव और सुन्दर ज्योतिर्मय परम शक्ति है।

परमेश्वर पवित्रभाव मे रहता है। सद्‌विचारों से वह प्रसन्न होता है। इसी विचार से यह विचारों की पुष्पाञ्जलि विश्वरूप परमेश्वर को सादर समर्पित करके मुझे सन्तोष है। निष्काम अर्पण को स्वीकार करने का आश्वासन देकर प्रभु ने मेरा उत्साह बढ़ाया है।

शिवरात्रि
स० २००७

गीताज्ञान पर

श्री अरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से प्रेरित

'अदिति' की सम्मति

[समालोचक श्री डा० इन्द्रसेन जी एम. ए. पी-एच. डी. पांडिचेरी]

पं० दीनानाथ दिनेश अनेक वर्षों से रेडियो पर गीता की कथा किया करते हैं। आपकी ये कथाएँ अत्यन्त ही सरल, सरस तथा प्रभावोत्पादक होती हैं। आप गीता की शिक्षा को सुन्दर दृष्टान्तों, युक्तियों तथा प्रमाणों से जीवनोपयोगी दर्शा देते हैं। ये कथाएँ खूब लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं।

उन्हीं के आधार पर आप "गीता-ज्ञान" नामक ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं, मूल श्लोक के साथ-साथ अन्वय है, शब्दार्थ है, पद्यानुवाद है, फिर अर्थ है और अन्त में अत्यन्त रोचक व्याख्या है। भाषा सरल और साहित्यिक है; भावना श्रद्धा और भक्तिपूर्ण। गीता सम्बन्धी दृष्टिकोण सौम्य, स्वस्थ और समन्वयात्मक। "कर्म, ज्ञान और भक्ति का संगम ही जीवन का तीर्थराज है।" "कर्म में अकर्म का दर्शन कैसे होता है? 'दिनेश जी' व्याख्या में बतलाते हैं—'कर्म करते-करते मनुष्य को ऐसा लगना चाहिये जैसे उसने कुछ किया ही नहीं।··· कर्त्तापन का अभिमान न आये, कर्म का बोझ मन और बुद्धि को न झुकाये, उमंग और उत्साह के हाथ-पैर न टूटें, प्रसन्नता न कुम्हलाये, आत्मा सदा हंसता-खेलता रहे और सर्वत्र आनन्दमय ब्रह्म के दर्शन हों······।'

अवश्य ही "गीता-ज्ञान" की व्याख्या व्यावहारिक है और हम विश्वास से कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। [अदिति नवम्बर १९५०]

१

श्रीभगवान् ने कहा—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

मयि, आसक्तमनाः, पार्थ, योगम्, युञ्जन्, मदाश्रयः ।
असंशयम्, समग्रम्, माम्, यथा, ज्ञास्यसि, तत्, शृणु ॥

पार्थ=हे पार्थ, मयि=मुझमें, आसक्तमना=लगे हुए मनवाला, मदाश्रय=मेरा आश्रय लिये हुए, योगम्=योग में, युञ्जन्=लगा हुआ, यथा=जिस प्रकार, माम्=मुझे, असंशयम्=संशय रहित, समग्रम्=पूरी-पूरी तरह, ज्ञास्यसि=जानेगा, तत्=उसको, शृणु=सुन ।

मुझमें लगाकर चित्त मेरे आसरे कर योग भी ।
जैसा असंशय पूर्ण जानेगा मुझे वह सुन सभी ॥

अर्थ—हे पार्थ ! मुझमें लगे हुए मनवाला, मेरा आश्रय लिये हुए, योग में लगा हुआ, जिस प्रकार मुझे संशय-रहित पूरी-पूरी तरह जानेगा उसको सुन !

व्याख्या—परमात्मा में जिसका मन लगता है वही मनस्वी, मनीषी और मननशील कहलाता है। मन लगाने की विधि का वर्णन छटे अध्याय मे किया जा चुका है। मन जिसमे लग जाता है वही मन में बस कर मनाकार हो सामने आता है।

परमात्मा में मन लगाने वाला परमात्मा को जान लेता है, परमात्मा की महानता, शक्ति और उदारता को देख कर उसका अनन्य

आश्रय ले लेता है और उससे कभी अलग नहीं होता। विद्या, कला, कुशलता और ज्ञान-विज्ञान की साधना मन लगाने वाले के लिये सरल हो जाती है।

श्रीकृष्ण ने कहा—

१. मयि आसक्तमनाः=मुझमें लगे हुए मनवाला

संसार में, संसार के नश्वर पदार्थों और विषय भोगों में मन लगाना नहीं पड़ता, स्वयं लग जाता है। सार-तत्त्व में, शाश्वत सत्य में, आत्मयोग में मन लगाना पड़ता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं है। प्रकृति दिखती है, परमेश्वर नहीं दिखता। अनात्म पदार्थ सर्वत्र सन्मुख रहते हैं। रूप रंग रहित होने के कारण आत्मा सदा सन्मुख नहीं रखा जा सकता। मन प्रत्यक्ष को चाहता है, विषय भोगों में सुख मानता है।

परमेश्वर को जानने के लिये—उसके प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्कार के लिये पहली शर्त है उसमें मन लगाना—मन लगाने का सच्चा भाव है—अपनी शक्ति को परमात्मा की अनन्त शक्ति में मिलाना, अपनी ज्योति को उसकी ज्योति में मिलाकर ज्योतिर्मय रखना, पूर्ण रूप से नियन्त्रण करके इन्द्रियों को अन्तःकरण सहित परम तत्त्व की ओर फेर देना, शुभ में नियुक्त रहना, भागवत भाव में विचरना।

परमात्मा में लगे हुए मनवाला ही योग का आचरण करता है।

श्रीकृष्ण ने परमात्म बोध की दूसरी शर्त रखी है—

२. योगम् युञ्जन्=योग में लगा हुआ

मन को आत्मा-परमात्मा और समस्त शुभ कर्मों में लगाना योग का ध्येय है और लग जाना योग है। योग अनेक प्रकार का हो सकता है; पर समस्त योगों का लक्ष्य स्वभाव से परमात्मा में टिक

जाना है। नियमित, संयमित, व्रतशील, सन्तुलित, व्यवस्थित और पवित्र जीवन जिसके द्वारा बनता है वह सब योग है।

योग-युक्त नर-नारी या योग का आचरण करनेवाले कभी परमात्मा का आश्रय नहीं छोड़ते यही आनन्द रूप परमेश्वर को जानने की तीसरी शर्त है—

३. मदाश्रय=मेरा आश्रय लिये हुए

आधार के विना कहीं ठहरना, खड़े होना या चलना सम्भव नहीं है। आधार शिला जितनी अधिक दृढ होती है उतना ही उच्च निर्माण उस पर किया जा सकता है। किसी भी समय परमेश्वर का आधार न छोड़ने वाला योग का अधिकारी होता है। उसी का योग सिद्ध होता है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे परमेश्वर के आधार को दृढ रख कर कदम बढ़ाता है।

परमेश्वर को जानने के तीन क्रमिक साधनों द्वारा इस अध्याय का प्रारम्भ हुआ है, इसी कारण इसका नाम ज्ञान-विज्ञान योग है। परमेश्वर को जाने विना ज्ञान अधूरा रहता है। न उसका कोई महत्त्व है और न कोई मूल्य। परमेश्वर को साक्षात् रूप मे सामने रखना, देखना और दिखा देना यही विज्ञान है। ज्ञान मे संशय रह सकता है, विज्ञान संशय रहित है, स्वयं मे पूर्ण है, प्रत्यक्ष है।

मन लगाने के लिये योग की साधना और योग साधना के लिये परम तत्त्व, सत्त्व, आत्मा और परमात्मा का आश्रय लेना यह संयम योग का क्रम है। इसे व्यवहार मे लाने के लिये आत्म-संयम-योग का श्रीकृष्ण ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया और फिर कहा—

जिसका मन मुझमे लगा रहता है, योग-युक्त हो जाता है और जो मेरा आश्रय लिये रहता है, वह जिस प्रकार मुझे संशय रहित और सम्यक् रूप मे जान लेता है, उस ज्ञान को सुन।

इस मन्त्र मे ज्ञान-विज्ञान योग की संक्षिप्त प्रस्तावना दी है। ज्ञान-विज्ञान की व्याख्या और ध्येय का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

२

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

ज्ञानम्, ते, अहम्, सविज्ञानम्, इदम्, वक्ष्यामि, अशेषतः।
यत्, ज्ञात्वा, न, इह, भूयः, अन्यत्, ज्ञातव्यम्, अवशिष्यते ॥

अहम्=मैं, सविज्ञानम्=विज्ञान सहित, ते=तेरे लिये, इदम्=इस, ज्ञानम्=ज्ञान को, अशेषतः=पूर्ण रूप से, वक्ष्यामि=कहूँगा, यत्=जिसको, ज्ञात्वा=जानकर, इह=संसार में, भूयः=फिर, अन्यत्=कुछ और, ज्ञातव्यम्=जानने योग्य, न=नहीं, अवशिष्यते=रहेगा।

विज्ञान युत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में।
जो जानकर कुछ जानना रहता नहीं संसार में ॥

अर्थ—मैं विज्ञान सहित तेरे लिये इस ज्ञान को पूर्ण रूप से कहूँगा, जिसको जान कर संसार में फिर कुछ और जानने योग्य नहीं रहेगा।

व्याख्या—ज्ञान और विज्ञान की कहीं 'इति' नहीं है जितना जाना जाता है, उससे भी अधिक जानना रह जाता है; जितनी खोज की जाती है उससे भी अधिक खोज करने के लिये शेष रहता है; परन्तु 'श्रीकृष्ण-योग' वहाँ पहुँचता है जहाँ कुछ और जानने के लिये शेष नहीं रहता; यही पूर्णयोग है। पूर्णयोग से 'कृष्ण कर्म', 'कृष्ण विद्या' और 'कृष्ण ज्ञान-विज्ञान' की ऐसी सिद्धि मिलती है जो सम्पूर्णता को स्वयं सिद्ध कर देती है।

"ज्ञान अनन्त है, विज्ञान नित्य नये और परिष्कृत रूप मे सामने आनेवाला है, अतः उसका भी कहीं अन्त नहीं है। ज्ञान सत्य का महत्व बताता है, उसकी अनेक व्याख्यायें करता है, सत्य तक पहुँचने के लिये उपदेश, आदेश, सन्देश देता है, विधि और निषेध सिखाता है। विज्ञान सत्य को भौतिक रूप देता है, प्रत्यक्ष खड़ा कर देता है।

परमेश्वर, प्रकृति और पदार्थों को जान लेने का नाम 'ज्ञान' है। वेद, वेदांग, सम्पूर्ण भौतिक और रसायन शास्त्र, भूगोल, खगोल आदि विद्याओं के जानने को भी 'ज्ञान' कहते है। विद्याओं को जान कर उनसे रचनात्मक कर्म करने को 'विज्ञान' कहते है।

ज्ञान उसी समय पूर्ण माना जाता है, जब उसके साथ विज्ञान होता है। आचरण-विहीन ज्ञान से सुख नहीं मिलता। ज्ञान को आचरण मे लाने का काम विज्ञान करता है। विज्ञान से ज्ञान प्रत्यक्ष हो उठता है। खोज, अनुभव और प्रयोगों के आधार पर विज्ञान खड़ा होता है।

ज्ञान, प्रेरणात्मक और विधानात्मक है। विज्ञान क्रियात्मक है। ज्ञान और विज्ञान दोनों को जान लेने पर पूर्णता प्राप्त होती है।

श्रीकृष्ण, अर्जुन को उस ज्ञान और विज्ञान का उपदेश देना चाहते है, जिसके द्वारा हृदय की आँखें खुलती है और ऐसी दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है जिससे जो कुछ है वह सब स्पष्ट दीखने लगता है, मनुष्य को किसी विषय मे अज्ञान और भ्रम नहीं रह जाता, जो कुछ जानने योग्य है, वह सब जान लिया जाता है, कुछ जानना शेष नहीं रहता।

ज्ञान-विज्ञान को सुलभ कर देने का वचन देकर श्रीकृष्ण ने कहा कि पहले ज्ञान-विज्ञान के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयों को जान लेना चाहिये, जिससे उसकी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त हो सके।

३

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

मनुष्याणाम्, सहस्रेषु, कश्चित्, यतति, सिद्धये।
यतताम्, अपि, सिद्धानाम्, कश्चित्, माम्, वेत्ति, तत्त्वतः॥

सहस्रेषु=हजारों, मनुष्याणाम्=मनुष्यों में, कश्चित्=कोई, सिद्धये=मुझे पाने का, यतति=प्रयत्न करता है, यतताम्=उन प्रयत्न करनेवाले, सिद्धानाम्=योगियों में, अपि=भी, कश्चित्=कोई ही, माम्=मुझे, तत्त्वतः=यथावत्, वेत्ति=जानता है।

कोई सहस्रों मानवों में सिद्धि करना ठानता।
उन यत्नशीलों में मुझे कोई यथावत् जानता॥

अर्थ—हजारों मनुष्यों में कोई मुझे पाने का प्रयत्न करता है। उन प्रयत्न करनेवाले योगियों में भी कोई ही मुझे यथावत् जानता है।

व्याख्या—जीवों में सर्व-श्रेष्ठ मनुष्य है। मनुष्य-जन्म परमेश्वर का सर्वोत्तम वरदान है।

परमेश्वर ने जीव के लिये चौरासी लाख योनियों की रचना की है। ८३९९९९९ योनियों में जीव को कहीं सुख और ज्ञान का अनुभव नहीं हुआ। किसी न किसी प्रकार की पराधीनता, विवशता और अभाव के कारण वह सर्वत्र दुखी बना रहा। अन्त में उसे मनुष्य देह मिली, इसे पाकर जीव प्रसन्न हुआ।

मनुष्य-देह में जीव को कर्म करने का अधिकार मिला—हाथ,

पैर, हृदय और मस्तिष्क द्वारा सम्पूर्ण अभावों की पूर्ति करने का बल मिला और परमेश्वर का मङ्गल मार्ग मिला।

वेदव्यास ने जी खोलकर मनुष्य की श्रेष्ठता की घोषणा की है—

देखो सर्वोत्तम ज्ञान रहस्य यही है।
जग में मानव से कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है॥

महाकवि गो० तुलसीदास ने व्यास की परम्परा में लिखा है—

'बड़े भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥'

मनुष्य शरीर बड़े भाग्य से मिला है, देवता भी मनुष्य बनने के लिये तरसते हैं, परन्तु मनुष्य बन जाने पर भी यदि मनुष्यता नहीं पाई तो मानव तन पाकर भी दुखों का अन्त नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य तन में जीव को सब प्रकार की सुविधायें मिली हैं—वह स्वतन्त्र है, ब्रह्मपद का अधिकारी है।

मनुष्य का शरीर सब साधनों का धाम और मुक्ति का द्वार है, परन्तु इसे पाकर भी मनुष्य मनुष्यता से गिर जाता है, अपना सुधार या उद्धार नहीं करता, इसीलिये दुःख पाता है, पछताता है, काल, कर्म और ईश्वर को मिथ्या दोष लगाता है।

यद्यपि विषय भोग मनुष्य के लिये दुखद और हानिकर है तो भी मनुष्यता को छोड़ कर मनुष्य विषय भोगों में आसक्त हो जाता है। विषय भोगी धर्म को धारण करने में असमर्थ रहता है। नीति का एक वचन है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥

नींद भय भोजन मैथुन भाव, मनुज पशु में है एक समान।
धर्म से हीन पुरुष पशु तुल्य, धर्म है मानव की पहिचान॥

श्रीकृष्ण ने ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि सर्व-सुलभ न होने के दो कारण बताये हैं—

१. हजारों मनुष्यों में से कोई मुझे पाने का प्रयत्न करता है।

२. उन प्रयत्न करनेवाले योगियों में से कोई- मुझे यथावत् जानता है।

मानव-तन का सदुपयोग न करने के कारण मनुष्य ज्ञान-विज्ञान और परमेश्वर को नहीं जान पाता।

फिर भी हजारों में से एक मनुष्य संसार में सुख रूप परमेश्वर की प्रतिष्ठा करना चाहता है और नौ सौ निन्यानवे स्वार्थ-भोगों में निमग्न रहकर दुःख फैलाते हैं। इसी कारण संसार में दुःख की मात्रा अधिक है।

परमेश्वर को पाने का प्रयत्न करनेवाले सभी नर-नारी परमतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते। भाग्य, पुरुषार्थ, देव-कृपा और गुरु-कृपा चारों के सुलभ होने पर पूर्णता प्राप्त होती है। किसी एक का भी अभाव परमतत्त्व तक नहीं पहुँचने देता। सारे साधन किसी ही भाग्यवान को सुलभ होते हैं। अतः यत्न करनेवाले बहुत से योगियों में से कोई एक यथार्थ रूप से परमेश्वर को जान पाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी।
कोउ इक होहि ज्ञान अधिकारी॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहही।
सम्यक ज्ञान सुकृति कोउ लहही॥

खाने-पीने, सुख भोगने की भौतिक वासनायें मनुष्य को ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि का प्रयत्न नहीं करने देतीं। अनेक द्वन्द्व, उलझनें,

अह, मान अपमान की भावना, शारीरिक सुख की चाह, लोकैषणा, वित्तैषणा आदि में फँसा हुआ मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की ओर ध्यान भी नहीं दे पाता।

सबसे बड़ा अज्ञान यही है कि मनुष्य परमात्मा को पाने का प्रयत्न नहीं करता। हजारों में से कोई एक ऐसा भी होता है जो प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है, पर कभी उसका विश्वास डिग जाता है, कभी श्रद्धा शिथिल पड़ जाती है, कभी उत्साह मर जाता है, कभी प्रसाद की धारायें सूख जाती हैं और कभी अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलने के कारण प्रयत्न पूरे नहीं हो पाते।

एकरस रहना, एकसा उत्साह बनाये रखना, किसी समय विश्वास न खोना और सतत् श्रद्धावान् रहना जिसे नहीं आता वह पथ पर चलता हुआ थक जाता है, पीछे रह जाता है, हार मान कर बैठ जाता है और सिद्धि नहीं पाता।

मनुष्य परिस्थितियों वश भाग्यवादी बन जाता है, भाग्यवादी पूरे मन और पूरी शक्ति से पुरुषार्थ नहीं करता। कभी पथ पर चलने का बल अर्थात् देव कृपा नहीं मिलती और कभी गुरु न मिलने के कारण भटक जाता है। अनुकूल भाग्य, सही पुरुषार्थ, देव कृपा और गुरु इन चारों का योग जब तक सुलभ नहीं होता तब तक प्रयत्नशील योगियों को भी सफलता नहीं मिलती।

मानव प्रकृति के विकृत होने पर विकार उत्पन्न होते हैं; विकार विचारों का वसन्त नहीं खिलने देते, विचारहीन को सफलता नहीं मिलती।

सफलता के मार्ग में प्रकृति और परमेश्वर दोनों के ज्ञान और सहयोग की आवश्यकता है। प्रकृति का वर्णन इस प्रकार है—

४

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः, एव, च ।
अहंकारः, इति, इयम्, मे, भिन्ना, प्रकृतिः, अष्टधा ॥

भूमिः=पृथ्वी, आपः=जल, अनलः=अग्नि, वायुः=वायु,
खम्=आकाश, मनः=मन, बुद्धिः=बुद्धि, च=और,
अहंकारः=अहंकार, एव=भी, इति=इस, अष्टधा=आठ प्रकार से,
भिन्ना=विभाजित, इयम्=यह, मे=मेरी, प्रकृतिः=प्रकृति है ।

पृथ्वी, पवन, जल, तेज, नभ, मन, अहंकार व बुद्धि भी ।
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी ॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी, इस आठ प्रकार से विभाजित यह मेरी प्रकृति है ।

व्याख्या—जो तत्त्व पिण्ड में हैं वे ही ब्रह्माण्ड में हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के कारणतत्त्वों को प्रकृति कहते हैं। परमेश्वर ने प्रकृति के द्वारा पिण्ड और ब्रह्माण्ड की रचना की है। प्रकृति, पुरुष की क्रियाशक्ति है। जगत् में सर्वत्र प्रकृति का यन्त्रवत नियंत्रण है। प्राणीमात्र प्रकृति के आधीन है, प्रकृति से प्रेरित होकर कर्म करता है। प्रकृति कार्यकरी शक्ति है। जो प्रकृति की शक्ति को धारण करता है, उसे नियन्त्रण में रखता है, वह पुरुष है और जो अपने पौरुष को सदा सन्तुलित, सत्य, समन्वित, स्वाधीन, शुद्ध-बुद्ध और नित्य-मुक्त

रखता है, वह सदात्मा पुरुषोत्तम है।

प्राय: जीव प्रकृति के आधीन रहता है। इस आधीनता मे क्रियाशक्ति प्रवल रहती है, ज्ञानशक्ति दब जाती है। प्रकृति की आधीनता ही मायारूप होकर जीव को नचाती है। प्रकृति पर शासन करनेवाला सदा स्वाधीन या मुक्त रहकर अपनी सत्ता के सुख और आनन्द का विस्तार करता है।

जगत नियन्ता ने लोकों की रचना के लिये पंचमहाभूतों का निर्माण किया। निर्माण की कथा मननीय और मनोरंजक है।

ब्रह्म दृश्य और द्रष्टा के रूप मे प्रकट हुआ। दृश्य प्रकृति कहलायी और द्रष्टा परमेश्वर। परमेश्वर ने प्राणियों के कर्मफल भोगार्थ भिन्न-भिन्न लोकों की रचना गुणों और तत्त्वों के योग से की। पचतत्त्वों ने अपने-अपने विकास, योग और शक्ति के अनुरूप प्रकृति को रूप दिया।

उस परमात्मा से सबसे पहले आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न हुआ।

आकाश

सर्वमित्याकाशे=यह सम्पूर्ण सृष्टि आकाश मे स्थित है। यह सब कुछ आकाश है। वेद ने उसे 'परमेव्योमन्' का पद दिया। वह द्रष्टा परम प्रभु आकाश रूप मे सर्वत्र है, इसी कारण सब देखता है, जानता है, व्यापक है, नित्य निरंजन है।

आकाश तत्त्व का विषय शब्द है, आकाश के कार्य से श्रोत्र (कान) ज्ञानेन्द्रिय और वाणी कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुई है।

जीव को बोलने और सुनने की शक्ति प्रकृति के आकाश तत्त्व

से मिली है। मनुष्य की प्रकृति में आकाश तत्त्व जब तक सुकृत रहता है, तब तक उसका शब्द और श्रवण विकृत नहीं होता। आकाश की शुद्धि समष्टि की शुद्धि है। निर्दोष वातावरण, पवित्र और शान्त वातावरण बनाने को आकाश-शुद्धि कहते हैं।

प्रत्येक प्राणी के शब्द आकाश में व्याप्त होकर अनन्त हो जाते हैं। शब्द से महाकाश, मठाकाश और घटाकाश सजीव, सतेज और शब्दायमान् रहते हैं। जैसा शब्द होता है, वैसी ही जीव की शक्ति जागती है और आनन्द मिलता है। इसी कारण शब्द श्रवण की महिमा है। ब्रह्म शब्द सुननेवाला सत् में स्थित रहता है। आकाशवत पवित्र, व्यापक और उदार बन जाता है, संसार में ब्रह्म-भाव देखता है और अपने शब्दों से ब्रह्म-भाव बढ़ाता है।

सात्विक शब्द अपनी सात्विकता से ब्रह्ममय वातावरण बना देते हैं। वेदों के मन्त्र, सामगान, कवियों की कलापूर्ण कवितायें विशुद्ध गीत इसी कारण शक्ति, मधुरता और आनन्द देते हैं कि उनमें स्थायित्व, ब्रह्म-भाव और हृदय के सूक्ष्म आकाश का विराट-भाव भरा रहता है।

राजसी और तामसी शब्द राग-द्वेष फैलाते हैं—भय, संशय, शोक, क्रोध और काम का दुःखमय वातावरण बनाते हैं।

यह प्राकृतिक नियम है कि मनुष्य जैसा बोलता है; सत्य-असत्य, कोमल-कठोर, सरस-नीरस वैसा ही उसका घटाकाश बन जाता है। घटाकाश या घट में जैसे भाव होते हैं, वैसा ही मठाकाश बनता है और उसी के अनुरूप महाकाश बनता है। अपने ही शब्दों की प्रतिध्वनि जीव की प्रकृति में भगवान् या शैतान के बोल गुँजाती है।

मधुर शब्दों का कोई मोल तोल नहीं है। शब्दों की दिव्य सम्मोहन शक्ति में अनुशासन भी है और निर्माण भी। श्रीकृष्ण की वंसी के बोलों ने विश्व को जीवन, संगीत, सरसता, समरसता, मधुरता और आनन्द से भर दिया।

शब्दों से काव्य के समस्त रस प्रकट होते हैं। जैसा शब्द होता है, वैसे ही श्रृङ्गार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत या शान्त रस से अन्तःकरण प्रभावित होता है।

वेद के पुरुष सूक्त का सारगर्भित विज्ञान है कि विराट पुरुष का उदार, प्रसन्न, पवित्र और सक्रिय शान्त मन शीतल अमृत आनन्द के स्वरूप में चन्द्रमा बन कर प्रकाशित हुआ, उसकी आँखों का तेज, तप और प्रकाश परम तपस्वी ज्योतिर्मय सूर्य बन गया, उसका शब्द ज्ञान का अक्षय कोष वेद के रूप में प्रकट हुआ, उसके एक एक संकल्प से अनन्त सृष्टियों का निर्माण हुआ।

जीव उसी ब्रह्म का अंश है। जीव भी अपने संकल्पों, विचारों, चेष्टाओं, कर्मों और शब्द स्पर्श आदि के द्वारा अपनी सृष्टि को सुखमय, सम्पन्न और पुष्ट बना सकता है।

प्रकृति के आकाश तत्त्व का ज्ञान विज्ञान मनुष्य को पवित्र और आनन्दमय लोकों तक पहुँचाता है। जो अपने आकाश तत्त्व को स्मरण, श्रवण और यज्ञ कर्मों द्वारा विशुद्ध रखता है, उसी की प्रज्ञा या कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है। बौद्धिक कार्य करनेवाले विद्वान, लेखक, वक्ता और कवि इसीलिये पवित्र और शान्त वातावरण में रहते हैं। जिसका आकाश तत्त्व जितना अधिक शुद्ध, शान्त और व्यापक होता है, उसमें उतनी ही प्रतिभा और दिव्य चेतना उदीयमान रहती है।

की वासनायें, कामुकता, चंचलता और दोष उत्पन्न करती है। स्वर्ग की हवा लगने से जीव देवता स्वरूप बन जाता है और नरक या संसार की हवा लगने से मनुष्य मनुष्यता से गिर जाता है। इसीलिये वायु तत्त्व को सदा शुद्ध रखने की आवश्यकता है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से वायु बिगड़ जाने से प्राणों की शक्ति क्षीण होने लगती है। शरीर में रहनेवाली वायु, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के रूप में जब तक ठीक-ठीक कार्य करती है, तब तक कोई रोग शरीर को नहीं घेरता। वायु तत्त्व को शुद्ध रखने के लिये प्राणायाम, वायु सेवन, व्यायाम और पवित्र सम्पर्क में रहना मानव-धर्म माना गया है। वायु शुद्धि के लिये ही यज्ञादि कर्मों का विधान है।

वायु का स्थान अनाहत चक्र में है।

अग्नि

अग्नि तत्त्व में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण है। अग्नि का विषय रूप है। अग्नि से नेत्र, ज्ञानेन्द्रिय और पैर कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। अग्नि का कार्य—प्रकाश, रस, आनन्द, तेज और गति देना है। अग्नि के बिना किसी रूप का अस्तित्व सम्भव नहीं है। दर्शन की दृष्टि भी अग्नि से ही प्राप्त है, अत. भारत मे प्राचीन काल से अग्नि उपासना, ज्योति उपासना, सूर्योपासना आदि प्रचलित है।

शतपथ ब्राह्मण मे एक मनोरंजक वार्ता है। शंका समाधान करते हुए एक ऋषि ने पूछा—

'किं ज्योतिरयं पुरुष ।'

इस पुरुष मे कौनसी ज्योति है?

ऋषि ने उत्तर दिया—

'पञ्च ज्योतिरयं पुरुषः ।'

पुरुष में पाँच ज्योतियाँ हैं।

सूर्य ज्योति, चन्द्र ज्योति, अग्नि ज्योति, शब्द ज्योति और आत्म ज्योति। इन पाँचों से पुरुष ज्योतिर्मय है। प्राणी में जो सजीवता, प्रतिभा, तेज, रूप, मधुरता, शक्ति और आनन्द है, वह इन्हीं ज्योतियों से है। ज्योति के बिना जीवन सम्भव नहीं है। जिसमें जितनी अधिक ज्योति होती है, वह उतना ही अधिक शक्ति सम्पन्न, सचेतन, स्वस्थ और पुण्यात्मा माना जाता है। जिसमें जितनी कम ज्योति होती है, वह उतना ही बलहीन, निस्तेज, रोगी, बुद्धिहीन और पापी माना जाता है।

ज्योतियों का पुञ्ज अग्नि तत्त्व, सम्पूर्ण तत्त्वों का शुद्ध करनेवाला है। वह पापों और तापों को भस्म करता है। गार्हपत्य-अग्नि, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभ्याग्नि, आवसथ्य-अग्नि, औपासनाग्नि, यज्ञ-अग्नि, योग-अग्नि, वैश्वानर-अग्नि, जातवेद-अग्नि, सिद्ध-अग्नि अनेक अग्नियों का वर्णन वेदों में मिलता है। इन अग्नियों से ही प्रकृति में उत्पन्न और पालन-पोषण करने की शक्ति है। अग्नि है तभी तक जीव और जगत् है। अग्नि ठण्डी पड़ जाने पर केवल राख रह जाती है।

अग्नि अनेक रूपों में प्रकट होकर उष्णता, रस, आनन्द और शक्ति देती है। जगत् में जितने रूप हैं, वे सब अग्नि से ही निर्मित हैं और अग्नि से ही पुष्ट तथा सम्पन्न हैं। अग्नि शब्द, स्पर्श दोनों को पवित्र करती है, रस और गन्ध से सृष्टि को भरती है, मैल जलाती है, माधुर्य निखारती है। अग्नि की कृपा से ही शक्ति और सम्पन्नता वृद्धि पाकर प्रसाद पूर्ण जीवन गढ़ती है। अग्नि का स्थान मणिपुर चक्र में है।

अग्नि के मन्द पड़ जाने से शिथिलता, उदासी, निराशा, रोग और दुःख जीव को घेरते हैं, जीवन में उत्साह नहीं रहता, रुचि मर जाती है।

जल

जल तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं। जल का विषय रस है। जल के कार्य से जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय और उपस्थ (लिंग) कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति है।

परमेश्वर की कृपा रस बन कर बरसती है। जल अपनी अनन्त धाराओं से सृष्टि को सींचता है। जगत् में जो हरा-भरा, फूला-फला है, वह सब जल से है।

जल तत्त्व का रस अपनी सरसता से ब्रह्म कहा जाता है। तन, मन और बुद्धि में भर कर चिन्मय रूप में प्रकट होता है। विचारों, शब्दों और कर्मों में तेज, ओज, नूतनता, उमंग और उत्साह भरता है। जिसमें रस है, वही निजानन्द में निमग्न रहता है।

जल तत्त्व अपने शुद्ध रूप में रस-ब्रह्म है और अशुद्ध रूप में वासनामय। जल तत्त्व के विकृत होने से तन-मन और बुद्धि में गन्दलापन भर जाता है—कामुकता, मलिनता और कठोरता बढ़ जाती है।

जल तन-मन को स्वच्छ और शान्त करता है। प्रक्षालन करके जागृति देता है। मल धोकर सौन्दर्य निखारता है। जल का स्थान स्वाधिष्ठान चक्र में है।

पृथ्वी

पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों गुण हैं। पृथ्वी का विषय गन्ध है। पृथ्वी के कार्य से नासिका ज्ञानेन्द्रिय और

गुदा कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है। भूमि तत्त्व की शुद्धि से सद्गुणों के अंकुर फूटते हैं; जीवन पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है।

भूमि तत्त्व की साधना से शेष तत्त्व स्वयं शुद्ध हो जाते हैं। धरती सर्वाधार है। जो भूमि का भार हल्का करता है, उसका आभार जगतपति मानता है। भूमि का भार उतारने वाला भगवान् कहलाता है।

धरती रत्न-गर्भा है। इसमें सोने के फूल फूलते हैं। पृथ्वी को दुहने वाला पूर्णकाम हो जाता है। पृथ्वी पर स्वर्ग बसाने वाला धरती पर पूजा जाता है। भूमि का स्थान मूलाधार चक्र में है।

भूमि तत्त्व के सुकृत होने पर धर्म की वृद्धि होती है। राष्ट्रीयता, सेवा-भाव, सत्य और पुण्य कर्मों से मनुष्य जीवन में ही मुक्ति पा लेता है। भूमि तत्त्व के विकृत हो जाने पर मनुष्य आलसी, भाररूप, दुष्कृती और नर्कगामी बनता है।

पाँचों तत्त्वों का ज्ञान, शोधन और विज्ञान मनुष्य को उन्नतशील और भाग्यवान् बनाता है। जिसे तत्त्वों का ज्ञान नहीं है, जो तत्त्वों को विकृत कर देता है, वह अभागा, पापी, दुष्कर्मी, देश-द्रोही, धर्म-द्रोही और आत्म-द्रोही होकर नरक में गिरता है।

पाँच तत्त्वों की साधना के लिये मन, बुद्धि, और अहंकार की उत्पति हुई है।

मन

मन अन्तःकरण का एक अंग है। अन्तःकरण वह है जो मनुष्य में गुप्त रूप से ऐसा कार्य करता है जो दिखाई नहीं पड़ता। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के संगठन को अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण में मन की प्रधानता है। मन इन्द्रियों का स्वामी है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का अध्यक्ष मन है। मन की आज्ञा से

इन्द्रियाँ कर्म मे प्रवृत्त होती है।

मन प्रकृति का चेतन अंग है। यहाँ तक कि यही ज्ञान का लेन-देन करता है। मन इन्द्रियों के साथ मिल कर शरीर मे मनोमय कोष की स्थापना करता है। मानव शरीर मे मन अत्यन्त चचल, बलवान, वेगवान और क्रियाशील है। मन मे ही चेतन छिप कर बैठता है। मानव-तन मे मन का स्थान मस्तिष्क मे है। सूक्ष्म शरीर मे जो आज्ञा-चक्र है वहीं मन रहता है।

दार्शनिकों के मत से मन बुद्धि मण्डल मे विचरता है। योगीजन ब्रह्म रन्ध्र को मन का निवास-स्थान मानते हैं। ब्रह्म रन्ध्र वह दशम द्वार है जिसके खुलते ही जीवन मे आनन्द भर जाता है, ब्रह्म रस प्रवाहित होने लगता है, सर्वतोमुखी प्रतिभा का उदय होता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है।

मन की विशेषता यह है कि वह स्वेच्छाचारी रहता है और इतना शीघ्रगामी है कि निमिष मात्र मे स्वर्ग, नरक और कोटि कोटि ब्रह्माण्डों की सैर कर आता है। उसका रथ कहीं नहीं रुकता इसीलिये जीव के मनोरथ अनन्त होते हैं। मन जहाँ रम जाता है, वहाँ से उसका हटाना दुष्कर है; क्योंकि मनुष्य को वही मनोरम लगता है।

मन की शक्ति को देख कर ही वैदिक ऋषियों ने मन को शिव-संकल्प वाला बनाने के लिये प्रार्थना की है—

(यजुर्वेद अध्याय ३४, मन्त्र १-६ तक)

इन मन्त्रों के अनुसार मन जाग्रत अवस्था मे, सुसुप्ति मे दूर दूर तक ले जाता है, उसके वेग का कोई अनुमान नहीं लग सकता, उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता। वह मन शिव संकल्प करने वाला हो।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की वृत्तियों को बल देनेवाला है। स्मृति, धैर्य और समस्त धर्म के लक्षणों को व्यवहार में लानेवाला है। इसके बिना कोई कर्म होना सम्भव नहीं है। अतः वह शिव-संकल्पों वाला बन जाय।

ज्ञान, विद्या, धर्म, योग साधना, भक्ति, सेवा-कार्य सबका मूलाधार विशुद्ध और उदार मन है। मन शिव संकल्पों वाला होता है तभी मनुष्य शुभ, मंगल और श्रेय में नियुक्त हो पाता है।

बुद्धि

बुद्धि प्रकृति का वह तत्त्व है जो मानस को प्रकाशित करता है। बुद्धि की प्रेरणा से मन और इन्द्रियों को कर्म में प्रवृत्ति मिलती है। मन विषय को पकड़ता है और बुद्धि उसे भोगने का निर्णय देती है।

शुभ में नियुक्त होनेवाला मन बुद्धि के साथ रहता है। उसकी आज्ञा से कर्म करता है। परन्तु, रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित मन बुद्धि को भी दबा लेता है और उसे अपने पीछे-पीछे चलाता है।

बुद्धि का लक्षण बोध है—'बोधनात् बुद्धिः'

बुद्धि से बोध होता है, विद्याओं और ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति मिलती है। बुद्धि का निवास ब्रह्म-रन्ध्र में है। बुद्धि का सम्बन्ध ज्ञान-विज्ञानमय कोशों से है। प्राण कोशों को भी बुद्धि प्रभावित करती है।

मनुष्य में जितनी अधिक बुद्धि होती है, उतने ही दृढ़ निश्चय से वह उत्तमोत्तम कार्यों में लगता है। बुद्धि जब निश्चयात्मक हो जाती है, तभी मनुष्य ज्ञानी कहा जाता है। जब बुद्धि किसी निश्चय पर नहीं पहुँचती तब मनुष्य अज्ञानी और मोह में फँसा हुआ माना

जाता है।

गीता के दूसरे अध्याय मे बुद्धि का विवेचन किया गया है—

'हे कुरुनन्दन। कर्मयोग मे निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है। परन्तु अस्थिर विचार वाले विवेकहीनों की बुद्धियॉ बहुत शाखा वाली और अनन्त होती है।'

मन के पीछे दौड़ने वाली दीन, पराधीन, चंचल और संशयात्मिका बुद्धि राग, द्वेष, हिंसा, भय, शोक और अनेक प्रकार के विकारों एवं अशुभ कर्मों मे लगाती है। इस हीन बुद्धि से ही अनेक प्रकार के भय, संशय, विरोध और वासनाओं का जन्म होता है। यह बुद्धि अधर्म मे लगाती है, विनाश करती है।

बुद्धि जब आत्मा से प्रकाश लेकर मन का नियन्त्रण करती है तब उसे रचनात्मक बुद्धि, योग-बुद्धि, आत्म-बुद्धि आदि नाम दिये जाते है। इस बुद्धियोग से किये हुए कर्म पवित्र और मुक्त होते है—

[गीता अध्याय २, श्लोक ४६, ५०, ५१]

बुद्धि का विकास, प्रकृति पर नियन्त्रण और विजय का एक साधन है। जो युक्त है अर्थात् शुभ मे युक्त, परमात्मा मे युक्त, नियम-संयम मे युक्त, आत्मा मे युक्त और अपने कर्त्तव्य-पालन मे युक्त है, उसे बुद्धि मिलती है। जब बुद्धि मे भावना की हिलोरें उठती है, तब शान्ति और सुख सहज-सुलभ हो जाते है। भावना का अर्थ है आत्मवान् होने के लिये साधना मे तत्परता। शुभ और मंगल कार्यों के लिये समर्पण की सदेच्छा, श्रद्धा और विश्वास की दृढ़ता सहित आत्म-कर्मों मे रुचि और तल्लीनता। प्रेम-भाव, सेवा भाव, सहयोगी-भाव और शिव भावों के लिये नित्य तत्परता को भी भावना कहते है। भावना मे बुद्धि और विचार दब जाते है। हृदय का सत्य और

आत्मा का स्नेह उभरा रहता है। भावना सद्भावों से युक्त रहती है, शान्ति को नहीं छोड़ती, स्वभाव में स्थित रहती है और मन को सन्तुलित तथा व्यवस्थित रखती है। बुद्धि में से जब कुतर्क, संशय, स्वार्थ और राग-द्वेष आदि विकार निकल जाते हैं तब बुद्धि भावना-युक्त कहलाती है।

भावना बुद्धि का शुद्ध और परिष्कृत योग है। जिसका जीवन जितना सरल, स्वाभाविक, प्रेममय, सेवामय, आनन्दमय और मधुर होता है, वह उतना ही भावुक कहलाता है।

बुद्धि प्रकृति की सर्वोत्तम देन है। मनुष्य की प्रधान शक्ति है। उषा के समान प्रभावती होकर जीवन में उदय या विकास लाती है। बुद्धि का क्षेत्र उपजाऊ है, अनुकूल जल-वायु, प्रकाश, साधना, आराधना, जप, तप आदि शुभ कर्मों में जब बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है, तब मनुष्य मेधावी कहलाता है।

मेधावी वह है, जिसकी धारणा शक्ति प्रबल और स्मृति विकसित रहती है। जो सत्य को जानकर ग्रहण कर लेता है, अपने भीतर भर लेता है और फिर विचारों तथा व्यवहारों के द्वारा उसे जगत में प्रसारित करता है।

मेधावी अपनी निश्चयात्मिका और भावनामयी बुद्धि से ऋत् को जान लेता है, अतः दैवी नियमों का उल्लंघन नहीं करता। मेधावी की तत्परता कभी थकती नहीं, परायणता कभी विचलित नहीं होती, ज्ञान खण्डित नहीं होता और ग्रहण-शक्ति कभी शिथिल नहीं पड़ती। इसी कारण वैदिक ऋषियों ने परमात्मा से मेधा की माँग की है। गायत्री मन्त्र मेधावी बना कर मनुष्य को शुभ में लगाता है, इसी कारण वह गुरु-मन्त्र है।

जो मेधावी है, वह मतिमान, विवेकी, स्मृतिवान, प्रज्ञावान और प्रतिभावान कहा जाता है, ये सब बुद्धि के क्रमश विकसित स्तर है। मेधावी की बुद्धि ऋत मे स्थित होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा का रूप ले लेती है और प्रतिष्ठित होकर प्रत्येक कर्म प्रतिष्ठा के साथ करती है, सर्वत्र प्रतिष्ठा पाती है।

बुद्धि के विकास स्तरों को जानना और उन पर चढ कर उत्तरोत्तर बढते जाना यही पूर्णयोग है जो सब धर्मों को पार करता हुआ परमेश्वर की शरण मे पहुँचता है—जहाँ न कोई पाप है, न दोष और न विकार, न चिन्ता और न शोक।

मति

मन और इन्द्रियों पर सयम कर लेनेवाली बुद्धि को मति कहते है। मति रचनात्मक होने पर सुमति और विनाशात्मक होने पर कुमति कहलाती है। मतिमान का ज्ञान शुद्ध और भावनामय होता है। मतिमान के प्राण सधे हुए, गतिशील, उत्साह समन्वित, उन्नत और स्वस्थ रहते हैं।

मतिमान केवल शरीर पोषण मे ही नहीं रहता, स्वार्थ बुद्धि से ऊपर उठता है, सत्य और सेवा मे तन-मन से लग जाता है, उसकी भावना बलवती होकर क्रियात्मक शान्ति मे टिकती है और आत्म-कार्यों मे लगी रहती है।

विवेक

विवेक वह है जो नित्य और अनित्य या सत् और असत् का निर्णय कर देता है। विवेक तारक होता है, बन्धन मे नहीं बँधता, ज्ञान को गौरव देता है, क्लेशों से बचाता है और कहीं उलझन मे नहीं पडने देता।

विवेक में चेतना खुल कर कार्य करती है और अतिमानस को जाग्रत रखती है। विवेकी आध्यात्मिक अनुभवों और स्मृतियों से पुष्ट तथा सन्तुष्ट रहता है, अपनी सुमति को बिखरने नहीं देता, तत्त्व को जान कर सत्य में टिका रहता है।

स्मृति

मति में जब विवेक भर जाता है तब विवेकी निजानन्द में निमग्न रहता है, इस निमग्नता में उसकी स्मृति जागती है। स्मृति उसे कहते हैं जो ज्ञान को विस्मृत नहीं होने देती, अपने स्वरूप का स्मरण रखती है, आत्मा को कहीं दबने या छुपने नहीं देती, नित्य, विकसित, प्रकाशित और ज्योतिर्मय रहती है।

स्मृति सत्य की अनुभूति है। कोई भी आवरण मल या विक्षेप स्मृति को ढकने में समर्थ नहीं होता। स्मृति न दबती है, न निर्बल पड़ती है। कान्ति, प्रभा, तेज और ओज से सज कर नित्य नये रूप में मन्द-मन्द मुस्काती हुई प्रकट रहती है।

प्रज्ञा

स्मृतिवान कर्म समाधि, ध्यान समाधि, ज्ञान समाधि और बुद्धि समाधि की सिद्धि के फल से प्रज्ञा प्राप्त करता है। प्रज्ञा आत्मा की प्रसादमयी सचेतन शक्ति है। बुद्धि, मेधा, सुमति, विवेक, स्मृति सबके योग से प्रज्ञा जागती है। प्रज्ञावान होना ही गीता का बुद्धियोग है। प्रज्ञावान को श्रीकृष्ण स्थितप्रज्ञ मानते हैं। प्रज्ञावान में ब्रह्मभाव स्पष्ट उभरा रहता है, वह सब परिस्थितियों पर अनुशासन करके ब्राह्मी-स्थित रहता है। उसके आनन्द पर विषाद की छाया नहीं पड़ती, उसके रस को माया के ताप सुखा नहीं पाते, कोई कुभाव उसके स्वभाव को नहीं बदल पाता और कोई द्वन्द्व उसकी प्रगति को मन्द

नहीं कर पाता। प्रज्ञा को प्रतिष्ठित कर लेना श्रीकृष्ण का परमयोग है।

प्रतिभा

जो प्रज्ञावान है या जिसकी प्रज्ञा सिद्ध हो जाती है, उसे प्रतिभावान् कहते हैं। प्रतिभा प्रकृति के मुख पर परमेश्वर की प्रत्यक्ष ज्योति है जो किसी अँधेरे में क्षीण नहीं होती, न मन्द पड़ती है और न बुझती है। कुशलता और निपुणता से प्रत्येक कर्म को कलापूर्ण ढंग से करती है। मार्ग को प्रकाशित रखती है, मंजिल पर पहुँची रहती है और पूर्णता को साधे रखती है।

प्रतिभा ही वह दिव्य दृष्टि है जो दिव्य-दर्शन, विश्व-दर्शन और साक्षात्कार कराती है। प्रतिभा आत्मा का दिव्य प्रकाश है, जिसमें प्रसाद छलकता है, प्रकाश झलकता है और जो नित्यानन्द में निमग्न रखती है।

बुद्धि की उपरोक्त अवस्थायें मनुष्य को प्रकृति के योग से मिलती हैं। बुद्धि तत्त्व से आगे प्रकृति का आठवाँ तत्त्व अहंकार है।

अहंकार

'अहंकार' वह है जिसकी इच्छा-मात्र और उपस्थिति से कर्म होते हैं। ज्ञान, कर्म, वस्तु और संसार में जीव का ममत्व केवल 'अहं' के कारण है। जीवात्मा को अपना भान करानेवाला अहं ही है।

अहंकार के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं—अहमिति, अहंकृति, अभिमान, गर्व, मद, घमण्ड, अस्मिता, आपा आदि।

अहंकार ही सृष्टि की वृद्धि का कारण है। अव्यक्त आत्मा जब अविद्या, आपा, ममता, मोह और विकारों से संयुक्त होता है, तब महतत्त्व के तामस अंश से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहं सर्वत्र व्याप्त है और उसका अंश प्रत्येक देह में रहता है।

अहंकार चित्त पर छा जाता है, बुद्धि को चलाता है और मन पर अपने ममत्व की गहरी छाप लगाता है।

अहं ही वह आवरण है जो आत्मा की दिव्य ज्योति को ढक कर अपने को ही सब कुछ मान लेता है। अहंकार गुणों के साथ मिल कर स्वभाव बनाता है। सात्विक अहंकार आत्मा की ओर ले जाता है, अपने पर अनुशासन रखता है, अपने को ब्रह्म में मिला कर दिव्य रूपान्तर का कारण बन जाता है। राजस अहंकार मन और बुद्धि पर ठीक-ठीक शासन नहीं कर पाता फिर भी उत्तेजना देता है—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अनेक विकारों तथा द्वन्द्वों में मन को उलझाये रखता है। उद्वेग, अशान्ति, अतृप्ति, व्यग्रता, उग्रता आदि दोष राजसी अहंकार के कारण उत्पन्न होते हैं।

तामसी अहंकार अपने को ही सब कुछ मान बैठता है—मूढ़, दुस्साहसी, दुराग्रही, दुरभिमानी, आत्म-प्रशंसक, अज्ञ, अपराधी और जघन्य कर्म करनेवाला बनाता है। तामसी अहंकार के कारण जीव आपदा में पड़ता है। सन्त वाणी प्रसिद्ध है—

'जहँ आपा तहँ आपदा'

अहंकार का दुर्भाव मनुष्य को नास्तिक, अनीश्वरवादी, विलासी और अधर्मी बना देता है। वह अहं ही है जो जीव में बैठ कर उससे जबरदस्ती न करने के कर्म करा लेता है। दुर्योधन अपने अहं से कहा करता था—

'मैं धर्म को जानता हूँ, पर उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, पर उससे छूट नहीं पाता। कोई है जो मेरे अन्तर में बैठ कर मुझे दुष्कर्मों में नियोजित कर देता है। वह मुझे जिस कर्म में नियुक्त करता है, वही मैं करता हूँ।'

यह अहंकार ही है जो अपने दुराग्रह और आवेश से उल्टा-सीधा करा लेता है।

आसक्ति, ममता और मोह केवल अहंकार से होते हैं। यहाँ तक कि चित्त की वृत्तियाँ अहंकार से ही बल पाकर कर्म करती हैं। अहं बुद्धि अपने को समझदार, बेसमझ, प्रसन्न, अप्रसन्न मानती है

और जैसा वह मान लेती है वैसा मन बन जाता है। मैं यह कर सकता हूँ या नहीं कर सकता, मुझे किसी से कोई प्रयोजन नहीं है आदि-आदि धारणायें भी अहंकार के कारण ही होती हैं।

अहंकार जब अन्नमय कोष में रम जाता है तो जीव को केवल खाने-पीने की रुचि देता है; स्वार्थी और भोगी बनाता है।

प्राणमय कोष में जमकर अहंकार प्राणों को बल देता है। देहगत ममत्व उत्पन्न करता है, चित्त को रागात्मक बनाता है और प्राणों तथा आत्मा के बीच में रह कर स्वरूप का बोध नहीं होने देता। अहंकार जब मनोमय कोष में जमता है तो मनस्तत्त्व को क्रियाशील रखता है; सुख, दुःख और द्वन्द्वों मे उलझाता है, बन्धन और मुक्ति का कारण बनता है।

विज्ञानमय कोष में टिका हुआ अहंकार बौद्धिक विकास में सहायक होता है, खोजों और प्रयोगों में लगाता है, उत्तम कर्म करने की प्रवृत्ति देता है और सात्विकता के प्रति झुकाता है।

आनन्दमय कोषों में टिका हुआ अहंकार मधुरता, शक्ति, आनन्द और मुक्ति की प्रेरणा देता है। शान्ति के साधन जुटाता है, साधना और संयम मे लगाता है, देहगत तम और मल धो डालने का बल देता है, जीवन-मुक्ति के लिये विदेह अवस्था में लाता है अपने आपको आत्मा में मिलाकर आत्म-रति, आत्म-तृप्ति और आत्मानन्द का कारण बन जाता है।

प्रकृति का यह वर्णन श्रीकृष्ण ने इसलिये किया है कि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान युक्त हो सके; आनन्दरूप, प्रेमरूप, सत्यरूप, सेवारूप और सर्वरूप परमेश्वर को जान सके; स्वयं अपने भाग्य का विधाता बने और सर्वतोमुखी विकास करके मानव के विराट रूप को विकसित कर सके। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार के स्वरूप, शक्ति और कार्यों का जिसे ज्ञान हो जाता है और जो उनका सदुपयोग करता है उसके लिये परमेश्वर सदा सुलभ रहता है।

यह अपरा प्रकृति कही जाती है। परा प्रकृति इससे भिन्न है। उसका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

५

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

अपरा, इयम्, इतः, तु, अन्याम्, प्रकृतिम्, विद्धि, मे, पराम् ।
जीवभूताम्, महाबाहो, यया, इदम्, धार्यते, जगत् ॥

महाबाहो=हे महाबाहो, इयम्=यह, तु=तो, अपरा=अपराप्रकृति है, इतः=इससे, अन्याम्=दूसरी को, जीवभूताम्=जीवरूप, मे=मेरी, पराम्=परा, प्रकृतिम्=प्रकृति, विद्धि=जानो, यया=जिससे, इदम्=यह, जगत्=जगत्, धार्यते=धारण किया जाता है ।

हे पार्थ ! यह 'अपरा' प्रकृति का जान लो विस्तार है ।
फिर है 'परा' यह जीव जो संसार का आधार है ॥

अर्थ—हे महाबाहो ! यह तो अपरा प्रकृति है, इससे दूसरी को जीवरूप मेरी परा प्रकृति जानो, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है ।

व्याख्या—अपरा प्रकृति पाँच तत्त्वों, मन, बुद्धि और अहंकार से बनी है । अपरा प्रकृति का विस्तार होते हुए भी जीव स्वाधीन है । यह मानना अज्ञान है कि जीव स्वाधीनता से कुछ नहीं कर सकता । इसी अज्ञान के कारण जीव भाग्यवादी बना है । जड़वत या यन्त्रवत कर्म करनेवाला मानव कोटि में नहीं आ सकता ।

सांख्य-दर्शन ने ज्ञान को मुक्ति का कारण इसलिये माना है कि ज्ञान जड़ प्रकृति से ऊपर एक चेतन प्रकृति या आध्यात्मिक प्रकृति

में स्थित करता है। उसका बोध कराता है, उसकी ज्योति दिखाता है। ज्ञान उसीको कहना चाहिये जो हमारा पथ आलोकित करके हमें सत्य की ओर चलाये और चेतन सत्ता में संवर्द्धित करे। ज्ञान अपरा प्रकृति पर नियन्त्रण करने के लिये परा प्रकृति की ओर ले जाता है। प्रकृति जड़ है, फिर भी वह सदा क्रियाशील रहती है। उसकी जड़ता को कर्म-प्रवृत्त रखनेवाला पुरुष है जो सदा चेतन और ज्ञान का अधिपति कहलाता है। यों भी कह सकते हैं कि प्रकृति शक्ति है, पुरुष उसे धारण करनेवाला शक्तिवान।

पंचभूत, मन, बुद्धि और अहंकार स्वयं चैतन्य नहीं हैं। जिस प्रकार ध्वनि-प्रसारक यन्त्र—रेडियो, ग्रामोफोन आदि स्वयं जड़ हैं परन्तु चेतन के संयोग से ध्वनि प्रकट करते हैं; उसी प्रकार अपरा प्रकृति जड़ है, परा प्रकृति के संयोग से वह चेतन तथा क्रियाशील रहती है।

जगत् में जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य, सम्पन्नता और वैभव है, वह सब परा प्रकृति के संयोग से है। अपरा प्रकृति में जीवन डालनेवाली परा प्रकृति है। परा प्रकृति की प्रेरणा और शक्ति से ही सृष्टि का विकास होता है। कण-कण और अणु-अणु में जो शक्ति है वह परा प्रकृति की है।

परा प्रकृति जीवरूपा है। यह जीवरूपा प्रकृति जब पिण्ड में पड़ती है, तभी जीवन प्रकट होता है। परा प्रकृति के बिना पिण्ड और ब्रह्माण्ड केवल मिट्टी है। अपरा और परा प्रकृति का योग ही सृष्टि में जीवन का कारण है।

श्रीकृष्ण ने कहा—

६

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

एतद्योनीनि, भूतानि, सर्वाणि, इति, उपधारय ।
अहम्, कृत्स्नस्य, जगतः, प्रभवः, प्रलयः, तथा ॥

इति=ऐसा, उपधारय=जानो, (कि) एतद्योनीनि=इन दोनों प्रकृतियों से, सर्वाणि=सम्पूर्ण, भूतानि=प्राणी हैं, अहम्=मैं, कृत्स्नस्य=अखिल, जगतः=जगत् का, प्रभवः=उत्पत्ति, तथा=तथा, प्रलयः=प्रलय हूँ ।

उत्पन्न दोनों से इन्हीं से जीव हैं जग के सभी ।
मैं मूल सब संसार का हूँ और मैं ही अन्त भी ॥

अर्थ—ऐसा जानो कि इन दोनों प्रकृतियों से सम्पूर्ण प्राणी हैं । मैं अखिल जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलय हूँ ।

व्याख्या—उत्पत्ति, पालन और प्रलय या जन्म, जीवन और मरण से सृष्टि चल रही है । उत्पत्ति का कारण परा और अपरा प्रकृति का योग है । जड़ और चेतन के मिले विना (पदार्थ नहीं हो सकता) किसी प्रकार की सृष्टि नहीं होती । केवल जड़ से रचना नहीं हो सकती और केवल चेतन से कर्मठता नहीं आती । उपनिषदों में प्रकृति को अँधा और पुरुष को लँगड़ा कहा है । प्रकृति शरीर है, पुरुष उसकी आँखें हैं । पुरुष ज्योति है, प्रकृति उसकी प्रसारक ।

भारत ने भौतिक ज्ञान की अवहेलना करके केवल अध्यात्म को अपनाया तो वह निवृत्ति की ओर बढ़ कर प्रवृत्ति में पीछे रह

गया। पश्चिम ने केवल भौतिकता पर बल दिया, वह प्रवृत्ति में बढ़ गया पर निष्कामता, त्याग, वैराग्य और आध्यात्मिकता का पथ उसे नहीं मिला। जड़वाद में कर्म हो सकता है, पर शान्ति नहीं मिलती। अध्यात्म में शान्ति मिलती है, कर्मठता पीछे रह जाती है। इसी कारण सृष्टि-सञ्चालन के लिये परमेश्वर ने परा और अपरा प्रकृति का सहयोग किया। इनके गठ-बन्धन अथवा पाणिग्रहण से ही उत्पत्ति और विकास का क्रम चलता है।

अपरा प्रकृति से जगत् को कर्म करने की शक्ति मिलती है और परा प्रकृति से कर्म करने की कुशलता। कर्म-मात्र बन्धन उस समय होता है, जब उसमें ज्ञान, कुशलता अथवा अनासक्ति का योग नहीं रहता। ज्ञान, कुशलता और अनासक्ति आध्यात्मिक चेतना पर निर्भर करती है। अध्यात्म विद्या परा-प्रकृति का विषय है। आध्यात्मिकता के बिना केवल भौतिक प्रकृति का ज्ञान किसी भी समय विनाशक हो सकता है, अतः भौतिक ज्ञान के साथ आत्म-ज्ञान होना सदा सुखदायक है।

आत्म-ज्ञान का आधार परमेश्वर है। परमेश्वर अखिल जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कर्ता है।

जगत् में जैसी प्रकृति बलवती हो जाती है, उसी के अनुसार रचनात्मक और विनाशात्मक कर्म होते हैं। अपरा प्रकृति के गुणों और विकारों की ओर दौड़ने से आत्मानन्द का रस सूख जाता है, भावना दूषित हो जाती है, आत्मा भूखा रह जाता है; अतः विनाशात्मक कर्म होते हैं।

परा प्रकृति का आश्रय लेने से जीव-भाव जागा रहता है। अध्यात्म का आधार मिलता है, रस की धारायें बहती हैं, आनन्द की

लीलायें होती हैं; अतः सृजनात्मक या रचनात्मक निर्माण-कर्म स्वयं ही होते रहते हैं।

परा और अपरा प्रकृति का नियन्त्रण करनेवाला परमेश्वर है। अपरा प्रकृति के रूप में वह असत् है, परा प्रकृति के रूप में सत् है और अपने पुरुषोत्तम रूप में सत् और असत् से परे है अतः उसे सच्चिदानन्द कहते हैं।

सत् से वह सदा और सर्वत्र है, स्वयं सत्तावान है। उसका कभी अभाव नहीं होता। उसकी महिमा अपने सत् के कारण सदा प्रकाशमान रहती है। उसकी सामर्थ्य सत् से समन्वित रहकर कभी छीजती नहीं है। उसका ज्ञान कभी मन्द नहीं पड़ता, उसकी दृष्टि सर्वत्र देख लेती है। ओज, तेज, बल, प्रकाश, मधुरता, शक्ति और आनन्द उसके लिये इतने सुलभ हैं कि वह इनका रूप ही बन जाता है।

अपने सत् के कारण वह महान् से महान् है। उसकी महिमा का गान अथवा उसका शब्द ही उसे प्रकट कर सकता है। सत नाम से परमेश्वर सृजन और पालन के लिये अपनी लीलाओं का विस्तार करता है।

सत् परमात्मा का रूप है। सत् ही उसका बल है। 'ॐ तत्सत्' उस ब्रह्म का निर्देश है, इसीसे वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों का निर्माण हुआ। उसके सत् का और सतनाम का सहारा लेने से दृढ़ता मिलती है, श्रद्धा उत्पन्न होती है। कर्म कुशलता पूर्वक होकर सफल हो जाते हैं।

सत् कहीं दिखता नहीं है, उसका साक्षात्कार किसी तर्क और प्रमाण से नहीं होता, ज्ञान उसे जानने का कारण बन जाता है और ध्यान कभी-कभी उसे देखता है।

वह है, यही उसकी 'चित्' शक्ति है। 'चित्' परमात्मा का

सगुणत्व है। चित् से परमेश्वर प्राणीमात्र को जीवन और श्वास देता है। जीवन प्राणदाता शक्ति का नाम 'चित्' है। चित् ही प्रगति और वृद्धि करता है, प्रेरणा और शक्ति देता है।

चित् रूप परमात्मा में जो जितना अधिक टिक सकता है उसे उतना ही अधिक आनन्द मिलता है। आनन्द से परमात्मा का अनुभव होता है। आनन्द ब्रह्म है। परमात्मा के नाम में आनन्द है, उसके लिये काम में आनन्द है, लीलाओं में आनन्द है, ज्ञान में आनन्द है, ध्यान में आनन्द है, प्रेम में आनन्द है, रूप में आनन्द है। उससे सम्बन्ध स्थापित रखने में आनन्द है। परमेश्वर से प्राप्त आनन्द में कहीं दुःख, सन्ताप, भय, चिन्ता और विकार की बाधा नहीं रहती।

परमेश्वर कर्ता-धर्ता, भर्ता-भोक्ता, प्रकाश पुञ्ज और आनन्द-कुञ्ज है। इसीलिये उसे सच्चिदानन्द कहते हैं।

उसकी शक्ति सत्ता से सुरक्षित रहकर व्यवहार में उतरती है और प्रकाश तथा आनन्द वितरण करती है, इसलिये उसका नाम सच्चिदानन्द है।

वह व्यापक है—एक होकर अनेक रूपों में है, हर समय सर्वत्र रहता है; अतः उसे ब्रह्म कहते हैं।

अपनी निर्विकारता, निर्लेपता और नित्यता के कारण वह परम ब्रह्म है।

सबके आत्मा में रहता है इसलिये अन्तर्यामी है। सबकी पीडा हरता है और सबको सहारा देता है, इसलिये दीनबन्धु है। सब पर दया करता है, क्षमाशील है, इसलिये दीनानाथ है। उसे पाकर कुछ पाना नहीं रह जाता, इसलिये वह परात्पर पुरुष है।

अपरा और परा प्रकृति से परे परमानन्द रूप सर्वेश्वर, सर्व शक्तिमान्, सर्व व्यापक, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर को जाने बिना मनुष्य भव-बन्धनों से नहीं छूट पाता, आत्म-सुख नहीं पाता और सर्वोपरि ज्ञान-विज्ञान के सत्य तक नहीं पहुँचता, अतः श्रीकृष्ण ने अपने परमात्म स्वरूप का ज्ञान-विज्ञान निरूपण करते हुए कहा—

७

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

मत्तः, परतरम्, न, अन्यत्, किंचित्, अस्ति, धनंजय ।
मयि, सर्वम्, इदम्, प्रोतम्, सूत्रे, मणिगणाः, इव ॥

धनंजय=हे धनंजय, मत्तः=मुझसे, परतरम्=परे, किंचित्=किंचित् मात्र भी, अन्यत्=दूसरी वस्तु, न=नहीं, अस्ति=है, इदम्=यह, सर्वम्=सम्पूर्ण जगत्, सूत्रे=सूत्र में, मणिगणाः=मणियों की, इव=भाँति, मयि=मुझमें, प्रोतम्=गुँथा हुआ है ।

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है ।
जिस भाँति माला में मणी मुझमें गुथा संसार है ॥

अर्थ—हे धनञ्जय ! मुझसे परे किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों की भाँति मुझमें गुंथा हुआ है ।

व्याख्या—जीव में सच्चिदानन्द तत्त्व का पूर्ण विकास उसका परात्पर रूप है । ब्रह्मपद पाना, ब्राह्मीस्थिति में टिक जाना, ब्रह्म वाणी सुनना और सुनाना; यही जीवन का परम ध्येय है । श्रीकृष्ण ने अपने योग और अवतारी कर्मों से ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया था । उनका भाव कहीं सीमित या संकुचित नहीं था । उनका अहं, उदार और व्यापक होकर जीवमात्र में मिल गया था । उनका व्यक्तित्व उभरते-उभरते विश्व को आत्मसात् कर चुका था । अतः वे मानव आत्मा थे, परमात्मा थे, मनुष्य रूप में भगवान् थे ।

श्रीकृष्ण अपने ब्रह्म या भगवद्भाव में अथवा व्यापक या विराट भाव में स्थित होकर गीता में सर्वत्र बोलते हैं। उनका 'मैं' सर्वात्ममय है। उन्होंने सूत्र रूप में अपने परम तत्त्व का बोध कराने के लिये कहा—

१. मुझसे परे दूसरी वस्तु किंचित-मात्र भी नहीं है।

२. मुझमें सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों की भांति गुँथा हुआ है।

१. मुझसे परे दूसरी वस्तु किंचित-मात्र भी नहीं है।

जीव जब अपने पूर्ण सुकृत ब्रह्मरूप में विहार करता है, तब वह व्यष्टि में रहते हुए भी समष्टि को आत्मसात् कर लेता है। आत्मा जितना व्यापक, महान्, उदार, पवित्र और स्वरूप में रहता है, उतना ही द्वैतभाव कम होता जाता है। अपने से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। मुझमें सब है, मैं सबमें हूँ—यही वह ब्रह्मभाव है, जिससे ब्रह्म सर्वोपरि माना जाता है। निर्विकारता, अहिंसा, अद्वेष और अमृत के स्रोत उसी समय मिलते हैं जब जीव यह मान लेता है कि सब मेरे ही रूप है। संसार में मैं ही मैं हूँ।

जैसे सब नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं, वैसे ही जीवमात्र की अन्तिम गति परमेश्वर है—वह परमेश्वर जिसमें सब समाये रहते हैं, जिससे अलग कुछ है ही नहीं।

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि, अहंकार—इन आठों से निर्मित अपरा प्रकृति और जीव रूपी परा प्रकृति सबके मूल में परमेश्वर है। परमेश्वर प्रकृति पर शासन करता है, इसलिये कि वह उसे अपना मानता है, उसे अपने से अलग नहीं समझता। वह इतना व्यापक हो जाता है कि उसे हटा देने से कहीं कुछ रहता ही नहीं।

परमेश्वर के भाव में टिक कर जो अपने को इतना बड़ा बना लेता है कि उसका अभाव खटकने लगता है और उसके बिना कहीं आनन्द और रस ही नहीं रहता, वही प्रकृति पर शासन कर सकता है।

श्रीकृष्ण ने अपने प्रेमभाव, मधुरता, आनन्द और योग से अपने को विराट बना लिया था, इसीलिये उन्होंने कहा—अर्जुन! मुझसे अलग और मुझसे आगे कुछ नहीं है। मेरे इस भाव को समझ लेना ज्ञान-विज्ञान का परम ध्येय है।

२. मुझमें सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों की भाँति गुँथा हुआ है—

जैसे सूत्र टूट जाने से माला के दाने बिखर जाते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर के छूट जाने से संसार बिखर जाता है। परमेश्वर में गुँथने वाले सुशोभित होते हैं, उत्तम पद पाते हैं।

जो कुछ है, उस सबको अपने आपमें गूँथ लेनेवाला सूत्र बन जाता है। मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी सफलता यही है कि वह अपने विचारों, चेष्टाओं, वचनों और कर्मों से चराचर जगत् को अपने में गूँथ ले। किसी के भी अलग होने से, छूट जाने या रूठ जाने से, माला खण्डित हो जाती है, जो यह जानता है वही सच्चा जप करनेवाला है।

महापुरुष, अवतारी पुरुष, नेता और विद्वान् जब सूत्र बन जाते हैं, तभी वे अपने में सबको बाँध पाते हैं और मानव-मात्र के हृदय में स्थान बनाते हैं।

श्रीकृष्ण की सर्वप्रियता का सबसे बड़ा कारण यही था कि वे सूत्र की भांति उर-उर में समाये हुए थे, उन्होंने सबको अपने में पिरो लिया था।

श्रीकृष्ण अपनी शक्ति का दुर्व्यय नहीं होने देते थे, संसार की प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग करने से उनका परम भाव शाश्वत होगया था; इसीलिये उन्होंने कहा—

८

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

रसः, अहम्, अप्सु, कौन्तेय, प्रभा, अस्मि, शशिसूर्ययोः,
प्रणवः, सर्ववेदेषु, शब्दः, खे, पौरुषम्, नृषु ।

कौन्तेय=हे कौन्तेय, अहम्=मैं, अप्सु=जल में, रस=रस हूँ, शशिसूर्ययो=चन्द्रमा और सूर्य में, प्रभा=प्रकाश, अस्मि=हूँ, सर्ववेदेषु=सम्पूर्ण वेदो में, प्रणव=ओंकार हूँ, खे=आकाश में, शब्द=शब्द हूँ, नृपु=पुरुषो में, पौरुषम्=पुरुषार्थ हूँ ।

आकाश में ध्वनि, नीर में रस, वेद में ओंकार हूँ ।
पौरुष पुरुष में, चाँद सूरज में प्रभामय सार हूँ ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ॐकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषार्थ हूँ ।

व्याख्या—परमेश्वर, जीवन और साररूप है। जल संसार में जीवन कहा जाता है, उस जीवनरूप जल मे परमेश्वर रस है। जल व्यष्टिरूप है और रस समष्टिरूप है। जो समष्टि है, वही परमेश्वर है।

एक अक्षर पुरुष है और दूसरा क्षर। क्षर प्रकृति में स्थित रहकर कर्म करता है और इसी कारण प्रकृति के कर्मों में बँधा रहता है। क्षर पुरुष के तन, मन, बुद्धि और अहं के सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के खेल होते हैं।

इस त्रिगुणमयी प्रकृति से ऊपर अक्षर पुरुष है, वही निर्विकार

ब्रह्म है। इस अक्षर पुरुष को अपना ध्येय बना कर बढ़नेवाला प्रकृति-जन्य प्रपञ्चों से छुट्टी पा जाता है।

अक्षर पुरुष जीवात्मा है, उसीसे यह जीव बना है और सारा जगत् उसी ने धारण किया हुआ है। सृष्टि-शक्ति, कर्म-शक्ति, इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति; इसी अक्षर से या परा प्रकृति से प्रवाहित होती है। इस परा प्रकृति में प्रकृति के जड़ तत्त्व और पुरुष की चेतन-शक्ति मिली रहती है।

अपरा प्रकृति केवल भौतिक है। परा प्रकृति उसमें शक्तियों का सञ्चार करती है, परा प्रकृति में पुरुष की अभिव्यक्ति होती है।

यहाँ गीता के तत्त्व प्रतिपादन में एक विशेषता है। परा प्रकृति परमेश्वर की शक्ति है, परमेश्वर नहीं है। अंश है, पूर्ण नहीं है। न यह पूर्णतया व्यक्त है और न अव्यक्त। न यह असत है और न सत। न यह मृत है और न अमृत। यह तो परम पुरुष की वह शक्ति है जो विश्व को उत्पन्न करती है, स्थिति में रखती है और लय कर देती है। परा प्रकृति परमेश्वर की वह चित् शक्ति है जो जीव और जगत् को सचेतन तथा क्रियाशील रखती है जिसमें सब ओत-प्रोत हैं और जो सबमें ओत-प्रोत है।

परा और अपरा प्रकृति से आगे इन दोनों का मूल कारण परमेश्वर है जो जगत् का प्रभव और प्रलय—करण-कारण है। उसकी परम शक्ति है जो परा और अपरा प्रकृति का नियन्त्रण करती है। परमेश्वर में टिकने वाला अपने अध्यात्म स्वभाव से या आत्मभाव से परा और अपरा प्रकृति के कार्यों को देख लेता है।

परमेश्वर परा और अपरा प्रकृति को जोड़ने वाला सूत्र है। सारा संसार उसमें मणियों की तरह गुँथा हुआ है। वह सूत्र रूप से

है, तभी तक संसार स्थित है। एक दूसरे से सम्बन्धित है। शक्तियों से सम्पन्न है। ज्ञान और विज्ञान से पुष्ट है।

परमेश्वर है, इसी कारण जड, चेतन वस्तुओं और पदार्थों का स्वरूप-ज्ञान मिलता है। परमेश्वर है, इसी कारण उस ज्ञान को ग्रहण और धारण करने की शक्ति मिलती है। जब प्राणी, स्वरूप ज्ञान और अनुभव रूप विज्ञान अथवा क्रियात्मक ज्ञान को ईश्वरीय चेतना से जान लेता है तभी वह प्रकृति के सत्य को समझने की योग्यता पाता है।

भौतिक ज्ञान केवल इतना जानता है कि प्रकृति से पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियाँ और उनके विषय भी प्रकृति से उत्पन्न है, परन्तु परा प्रकृति या आध्यात्मिक दृष्टि से यह समझ मे आता है कि कोई दूसरी ही सत्ता है जिससे शक्तियाँ प्रस्फुटित होती है। चेतना और प्रकाश की धारायें उमड़ती है। नित्य नयी प्रेरणा मिलती है।

परमेश्वर की सूक्ष्म शक्तियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं, इसका स्पष्टीकरण करने के लिये ही श्रीकृष्ण ने कहा—

मै जल मे रस हूँ—

व्यापक, उदार और अनन्त आत्मभाव की प्राप्ति रस से होती है। रस रसायन है. रस सार वस्तु है। रस आनन्द का सत् है। रस ही ब्रह्म है। जहाँ रस है, वहीं अमृत है, गहरे रस की अनुभूति व्यक्तियों और परिस्थितियों को सूखने या विपरीत नहीं होने देती। रस हृदय को प्रसन्न, प्रफुल्लित, उमंगित और तरंगित रखता है। मनुष्य मे रस होता है, तभी हर्ष की हिलोरें उठती है। सरसता से शुद्ध भावना बनती है, भावना से सुमति, मेधा, विवेक और प्रज्ञा तथा प्रतिभा का क्रमशः विकास होता है। प्रतिभा से उदार विनम्र और महान् व्यक्तित्व बनता है।

रसहीनता में कठोरता, प्रमाद, जड़ता और अनेक अनुदार विकार उत्पन्न होते हैं। संसार में जो दुःख, विषाद, रोग और ताप हैं, वे सब रस के अभाव में ही सिर उठाते हैं।

नीरस रहना आत्मा का और परमात्मा का तिरस्कार है। सरस रहना जीवन में परमात्मा का पुरस्कार है।

व्यापकता का विस्तार रस से होता है। रसवान प्राणीमात्र में समा जाता है।

रस का स्थान महत्वपूर्ण है। औषध, वनस्पति, फल-फूल रस के बिना सारहीन हैं। कर्म रस के बिना बन्धन है, वाणी रस के बिना व्यर्थ है, काव्य रस के बिना असमर्थ है; सृष्टि का जीवन, अस्तित्व और आनन्द रस से है।

रस जब रूप में प्रकट होता है, तब वह प्रकाशक, ज्योतिर्मय, आकर्षक, सतेज और प्रभावान बन जाता है। संसार में जो कुछ प्रभा है, वह न परा प्रकृति से है और न अपरा प्रकृति से—प्रभा के रूप में परमेश्वर सूर्य और चन्द्रमा में समा गया है।

"चन्द्रमा एवं सूर्य में प्रकाश हूँ"—

यद्यपि रस, रूप आदि पंच तन्मात्रायें कहलाती हैं, परन्तु जब तक इनकी क्रियायें और शक्तियाँ प्रकृति से समन्वित रहती हैं, तब तक उनमें से इन्द्री विषय निकलते रहते हैं; जब ये ईश्वरीय शक्ति से समन्वित हो जाते हैं तब इनसे दिव्य साक्षात्कार होता है। ईश्वरीय प्रकाश शशि और सूर्य में है, परन्तु जब वह प्रकाश आत्मा के साँचे में ढलकर बाहर आता है या परमात्मा के माध्यम द्वारा जीव पर पड़ता है, तभी उसमें भगवद्भाव भरता है।

प्रकाश के बिना या प्रभा के बिना जगत् में सर्वत्र अँधेरा रहता

है। परमेश्वर जब प्रभा रूप मे प्रकट होता है, सभी विश्व ज्योतिर्मय और जीवन सतेज दीखता है।

क्षर और अक्षर या परा और अपरा प्रकृति का नियन्त्रण करनेवाला परमेश्वर ही वेदों मे ओंकार है। श्रीकृष्ण ने कहा—

प्रणव सर्ववेदेषु=मैं सम्पूर्ण वेदों मे प्रणव हूँ।

'प्रणव', शब्द की महाशक्ति है। वाक् का विकास प्रणव से होता है, ज्ञान का आधार और वेदों का सार प्रणव है। प्रणव ही 'ओ३म्' है। 'ओ३म' आध्यात्मिक शक्तियों का स्रोत है। ॐ से स्वर की साधना सिद्ध हो जाती है, शब्द मे शक्ति भर जाती है। 'ओ३म' समस्त आध्यात्मिक ध्वनियों का मूल है, मन्त्रों का प्राण है और शब्द सिद्धि का प्रमाण है। 'ओ३म' ब्रह्म का चिह्न है, इसी कारण प्रत्येक वैदिक मन्त्र के प्रारम्भ मे 'ओ३म' लगाया जाता है।

'ओ३म्' एकाक्षर ब्रह्म है, इसी कारण 'ओ३म्' के उच्चारण से जप और स्मरण होता है। 'ओ३म्' सम्पूर्ण गुरु शक्तियों का स्रोत है, इसी कारण प्रणव के बिना मन्त्र सिद्धि सुलभ नहीं होती।

रस और प्रकाश को अपना रूप बताते बताते श्रीकृष्ण ने अपौरुषेय वेदों मे अपने को 'प्रणव' कहा इसलिये कि रस और रूप के स्वरूप, प्रकाशक तथा प्रेरक परमेश्वर की प्राप्ति का साधन 'ओ३म' है। आध्यात्मिक रस और प्रकाश जड़ता और असत् से ढका हुआ है। 'प्रणव' या 'ओ३म्' उस ढक्कन को उघाड़ देने का काम करता है। आत्म-चेतना, ज्योति और रसानन्द की अभिव्यक्ति 'ओ३म्' के उच्चारण से स्पष्ट हो जाती है।

'ओ३म्' के उच्चारण का साधन शब्द है। 'ॐ' वह मूल ध्वनि है जिसमे स्वर और शब्द की शक्ति सवर्द्धित होती है। ससार मे

उत्पन्न होनेवाले शिशुओं की प्रारम्भिक ध्वनि प्राय: एक-सी होती है। उस पर देश, काल, परिस्थिति और भाषा का प्रभाव पड़ने से वह बदलती जाती है। जो शिशु कठोर ध्वनि सुनते हैं उनके स्वरों में कर्कशता आ जाती है। जो मधुर और कोमल शब्द सुनते हैं, उनमें मधुरता की वृद्धि होती है। शिशु को 'ॐ' की ध्वनि जितनी अधिक सुनने को मिलती है, उतना ही अधिक उसके आध्यात्मिक शब्दों और शक्तियों का विकास होता है। श्रीकृष्ण ने कहा—

शब्दः खे=मैं आकाश में शब्द हूँ।

जैसे रस जल में रहता है, प्रकाश शशि और सूर्य में रहता है, प्रकार शब्द अनन्त आकाश में व्याप्त है। शब्द को ब्रह्म कहते हैं।

पुरुष ने जब पहले पहल इस धराधाम पर अवतार लिया तब उसने बार-बार विचार किया कि संसार में किस व्यवहार से सुख का निरन्तर विस्तार हो। सहसा आकाश से शब्दोच्चार हुआ और स्पष्ट सुन पड़ा कि शब्द के अतिरिक्त चेतना को साकार करनेवाला और कुछ नहीं है। शब्द के बल से मनुष्य भूतल पर सफल होता है।

शब्द के रूप में साकार होकर परमात्मा ने साम-गान किया, तत्त्वज्ञान दिया और धड़कता हुआ प्राण दिया। श्रीकृष्ण वंशी के शब्द से प्राणों में रस, मधुरता और आनन्द का सञ्चार करते थे, पाञ्चजन्य के शब्द से प्राणों में साहस भरते थे। शब्द की महिमा महान् है।

शब्द श्रवण एक साधना है। परम कल्याणी सिद्धि या जीवन-मुक्ति पाने के लिये प्राणी दैवी वाणी सुनकर जब शब्द को धारण करता है और शब्द उसमें अनहद ज्ञान भरता है, तभी जीवन का अमृत-फल मिलता है।

परमात्मा शब्द रूप में प्रकट होकर जीव का पथ-प्रदर्शन करता है, आकाशवाणी, देववाणी या आत्मवाणी के रूप में जीव में बैठा हुआ परमात्मा बोलता है, उसकी वाणी को सुननेवाला नित्य-मुक्त रहता है।

शब्द के सुनने का अधिकारी पुरुष है, जो उसे समझ और मनन कर सकता है। पुरुष वही है जिसमे पुरुपार्थ हो। श्रीकृष्ण ने कहा—

पौरुषं नृषु=मैं पुरुषों मे पुरुपार्थ हूँ।

गीता में सृष्टि और जीवन के विकास का एक क्रम है। ज्ञान को विज्ञान मे परिणत करने का और विज्ञान को समग्र करने का या अशेषतः जानने का सोपान है। अशेषतः उसे कहते हैं, जिसमे कुछ शेष न रहे। इस क्रम मे या इस सोपान पर रस महत्त्वपूर्ण है। रस के लिये उष्णता, प्रकाश अथवा कर्म शक्ति चाहिये। कर्म शक्ति के लिये वेदों का सार प्रणव चाहिये। प्रणव के लिये शब्द और शब्द के लिये पौरुष। जिसमे पौरुष नहीं है, उसके लिये सुना हुआ व्यर्थ है।

पौरुष वह शक्ति है जिसके द्वारा मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ कर्म करने मे समर्थ है। पुरुपार्थ, उद्यम और समस्त कर्म-प्रवृत्तियाँ पौरुष शक्ति पर निर्भर है जिसमे पौरुष रूप परमेश्वर जितना अधिक रहता है, वह उतना ही अधिक पुरुपार्थी कहा जाता है।

पुरुपार्थ दो प्रकार का होता है—

(१) पार्थिव (२) पारमार्थिव।

जो पुरुपार्थ ऐश्वर्य, वैभव, सम्पन्नता और सॉसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये किया जाता है उसे लौकिक अथवा पार्थिव पुरुपार्थ कहते है। अर्थ और काम के लिये मानव-मात्र को पुरुपार्थ करना पड़ता है।

जो पुरुपार्थ धर्म, मोक्ष और परमात्मा के लिये किया जाता है, उसे पारमार्थिव पुरुपार्थ या पारलौकिक पुरुपार्थ कहते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये जो कुछ किया जाता है, उसे पुरुपार्थ कहते हैं। चारों पदार्थों को परमार्थ में लगाकर परमेश्वर की प्राप्ति के लिये जो कुछ किया जाता है उसे परम पुरुपार्थ कहते हैं। जिसके द्वारा पुरुपार्थ और परम पुरुपार्थ सिद्ध होता है, वह पौरुप कहा जाता है।

पौरुप जब पुरुपार्थ में उतरता है तब दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। परमात्मारूप पौरुप को कर्म में प्रकट कर लेना ही साक्षात्कार है। ऐसा साक्षात्कार होने पर किसी प्रकार का दुख नहीं रहता—

"त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुपार्थः।" (सांख्य. १।१)

तीनों प्रकार के दुखों की नितान्त निवृत्ति करनेवाला परम पुरुपार्थ है।

पौरुप रूप परमेश्वर से ही मनुष्य तापों, पापों से छूट कर पुरुपार्थ करता हुआ जीवन-मुक्त हो जाता है।

साँसारिक प्राप्तियों के लिये जो पुरुपार्थ किया जाता है उससे सुख और शान्ति की स्थायी प्राप्ति नहीं होती। परमेश्वर के लिये जो परम पुरुपार्थ किया जाता है उससे शान्ति और सुख स्वयं सुलभ हो जाते हैं।

इस प्रकार परमेश्वररूप सूत्र में सम्पूर्ण शक्तियाँ गुँथी रहती हैं। रस, प्रकाश, प्रणव, शब्द और पौरुप सब उसीके रूप हैं। उसके नाम और रूपों का कहीं अन्त नहीं है। विशेप-विशेप तत्त्वों का ज्ञान कराते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

९

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

पुण्यः, गन्धः, पृथिव्याम्, च, तेजः, च, अस्मि, विभावसौ,
जीवनम्, सर्वभूतेषु, तपः, च, अस्मि, तपस्विषु ।

पृथिव्याम्=पृथिवी में, पुण्य=पवित्र, गन्ध=गन्ध, च=और, विभावसौ=अग्नि में, तेज=तेज हूँ, च=और, सर्वभूतेषु=सम्पूर्ण प्राणियो में, जीवनम्=जीवन हूँ, च=और, तपस्विषु=तपस्वियो में, तप=तप, अस्मि=हूँ ।

शुभ गन्ध वसुधा में सदा मैं प्राणियों में प्राण हूँ ।
मैं अग्नि में हूँ तेज, तपियों में तपस्या ज्ञान हूँ ॥

अर्थ—पृथिवी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में जीवन और तपस्वियो में तप हूँ ।

व्याख्या—पवित्रता और श्रेष्ठता में सर्वत्र परमेश्वर है। धरती माता अपनी जिस दिव्यगन्ध से औषधियों, वनस्पतियों, पुष्पों और अन्न में शक्ति और सुगन्धि भरती है, वह परमेश्वर है ।

पृथ्वी में पवित्र गन्ध हूँ—

धरती से अनेक प्रकार की सुगन्धियाँ प्रकट होती हैं। पुष्पों, फलों, वनस्पतियों, ओषधियों और अन्नों मे पृथ्वी की गन्ध रहती है। एक ही धरती से गुलाब, केवड़ा, चम्पा, चमेली, खस, हिना आदि-आदि सैकड़ों प्रकार की सुगन्धियाँ निकलती हैं। धरती किसी वस्तु को मीठा बनाती है, किसी को कड़ुवा, किसी को फीका, चर्परा,

नमकीन, कसैला आदि। यह सब धरती में प्रवेश करके परमेश्वर का ही प्रकट होता है। परमेश्वर के होने से पृथ्वी में गन्ध है। वह परमेश्वर ही धरती से निकल कर फूलता-फलता है। परमेश्वर केवल पुण्य या शुभ गन्ध का रूप है, दुर्गन्ध से उसे प्रयोजन नहीं है। अशुद्ध और अशुभ गन्ध त्याज्य है। शुद्ध और शुभ गन्ध ग्रहण करने योग्य है।

अग्नि में तेज हूँ—

अग्नि में प्रकाश करने की, उष्णता देने, जलाने, आनन्द देने और रस बनाने की जो शक्ति है वह परमेश्वर से है। वेदों में परमेश्वर की स्तुति करते हुए उसे तेज, शुक्र और अमृत रूप कहा है। वह अपने तेज से प्राणियों को तेजस्वी बनाता है।

अग्नि पूजा का ध्येय तेज प्राप्त करना है। उपनिषदों में अग्नि विद्या का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। अग्नि के बिना रस, आनन्द और शक्ति का सुलभ होना किसी प्रकार सम्भव नहीं। अग्नि में जो तेज है वह परमेश्वर का रूप है। गृह-अग्नि, वैश्वानर-अग्नि, जातवेद-अग्नि, सिद्ध-अग्नि, योग-अग्नि आदि अनेक अग्नियों का वर्णन उपनिषदों में मिलता है। जीव और जगत् में अग्नियों के कारण ही प्रकाश और तेज है।

श्रीकृष्ण में अग्नियों की सिद्धि थी, जिसके कारण उनका तेज सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाशमान् रहता था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के तेज का दर्शन करके उसका वर्णन किया है— (गीता ११।१२)

अग्नि सेवन से विकार भस्म हो जाते हैं, त्रय-ताप शान्त होते हैं। पवित्रता प्रकाशित होती है और मुख पर एक अदम्य तेज उदय हो जाता है। तेज परमेश्वर का साक्षात् दर्शन है।

इस प्रकार पाँचों महाभूतों में परमेश्वर निवास करता है। जल में रस, अग्नि में तेज, आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श और पृथ्वी में गन्ध परमेश्वर के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह भी समझ लेना आवश्यक है कि पंचभूतों का सत्त्वांश ही परमेश्वर है, जो राजसी और तामसी

अंश है अथवा जिससे विषय भोगों की प्रवृत्ति होती है, उसमें दैवी भाव नहीं रहता। शुभ गन्ध से यही अभिप्राय है। इन्द्रियों के विषय जीव को खाते हैं, दिव्य विषय या तत्त्वों की कारण रूपा मात्रायें दैवी चिह्न हैं।

ब्रह्म-रस, ब्रह्म तेज, ब्रह्म-शब्द, ब्रह्म पुरुषार्थ, ब्रह्म-गन्ध, ब्रह्माग्नि जनित तेज; इन सबसे परमेश्वर का प्रमाण ही नहीं स्पष्ट दर्शन मिलता है।

इस प्रकार अपरा प्रकृति मे, परमात्मा है या प्रकृति परमात्मा मे गुँथी हुई है। अब परा प्रकृति मे या जीव मे अपना दर्शन कराते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

प्राणियों में मैं जीवन हूँ—

परमेश्वर के बिना जीवन धोखा है। प्राणी उसी के बल से बलवान हैं, इसी कारण जो परमेश्वर को प्राणों मे भरे रहते हैं वे सब प्रकार समर्थ और प्राणवान कहे जाते हैं। प्राणों का शोधन करने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि परमेश्वर से किसी भी अवस्था मे अलग नहीं होना चाहिये। प्राणों की जागरूकता परमेश्वर को धारण करने से है। प्राणों में जब तक परमेश्वर रहता है तभी तक जीवन है।

भागवत में श्रीकृष्ण और गोप-गोपियों के परम पवित्र, उदार और व्यापक प्रेम का वर्णन है। कवियों ने गोपियों की टेक का अद्भुत वर्णन किया है—

> प्राण भये कान्हमय कि कान्ह भये प्राणमय,
> हिय मे न जानि परै प्राण हैं कि कान्ह हैं।

प्राणों मे और सम्पूर्ण जीवन मे जब परमात्मा का प्रकटीकरण होता है तभी जीव ब्रह्मरूप, परमपद या जीवन-मुक्ति प्राप्त करता है।

प्राणीमात्र मे जो प्राण-शक्ति या ज वन तत्त्व है वह परमेश्वर ही है। जीवनी-शक्ति परमेश्वर का अनुभव करने से प्रकट होती और बढ़ती है। गीता जीवन मे परमेश्वर को साकार करने का आदेश

देती है, इसी कारण उसका नाम जीवन-कला-ग्रन्थ या ब्रह्म-विद्या का योग-शास्त्र पड़ा है। कलापूर्ण या ईश्वरीय जीवन बनाना गीता का परम ध्येय है।

जीवन को ओजपूर्ण, तेजपूर्ण और कलापूर्ण बनाने के लिये तप चाहिये। तप परमेश्वर का रूप है।

तपस्वियों में मैं तप हूँ—

तेजोमय भगवान् तप से प्राणियों में प्रकट होते हैं। तप वह है जो दैहिक, वाचिक और मानसिक मल को भस्म करता रहता है। कष्ट सहकर भी परमेश्वर के लिये कर्म करना तप है। घोर परिस्थितियों में भी धर्म को न छोड़ना तप है। सेवा, साधना, व्रत, संयम, सत्य भाषण, अनुद्वेगकारी भाषण, स्वाध्याय, सौम्यता, सरलता, पवित्रता और समस्त दैवी गुणों को धारण करना तप है। तपस्वी जन जब साधना करते हैं, तब भगवान् तप के रूप में प्रकट होकर उनकी साधना सफल करते हैं।

तप रूप भगवान् जब सिद्ध हो जाते हैं तब पापों का क्षय होता है, ताप ठण्डे पड़ जाते हैं, शरीर में और ब्रह्माण्ड में स्थित देवता प्रसन्न होते हैं, संसार में ही स्वर्ग का निर्माण हो जाता है, यश, श्री, कीर्ति, मेधा, स्मृति और अन्तःस्थित समस्त शक्तियाँ व्यवहार में उतरती हैं। ज्ञान-विज्ञान और समस्त विद्याओं की साधना तप से सफल होती है।

जिसमें तप है उसमें परमेश्वर प्रकट रूप से रहता है। जो तपहीन है, वह अपने में बसे परमेश्वर को न जानने के कारण सदा दीन-हीन रहता है। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो तप रूप भगवान् को पा जाने पर सुगम, सरल और सफल न हो।

परमेश्वर का तप इतना बढ़ा हुआ है कि वह तपोबल से ही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। उसके तप ने उसे बीज रूप बना दिया है, जहाँ पड़ता है वहीं अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा—

१०

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

बीजम्, माम्, सर्वभूतानाम्, विद्धि, पार्थ, सनातनम्, बुद्धिः, बुद्धिमताम्, अस्मि, तेजः, तेजस्विनाम्, अहम् ।

पार्थ=हे पार्थ, सर्वभूतानाम्=प्राणिमात्र का, सनातनम्=सनातन, बीजम्=कारण, माम्=मुझे ही, विद्धि=जान, अहम्=मैं, बुद्धिमताम्=बुद्धिमानो की, बुद्धि=बुद्धि, तेजस्विनाम्=तेजस्वियो का, तेज=तेज, अस्मि=हूँ ।

हे पार्थ ! जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ ।
तेजस्वियों में तेज, बुध में बुद्धि का भण्डार हूँ ॥

अर्थ—हे पार्थ ! प्राणियों का सनातन बीज मुझे ही जान । मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ ।

व्याख्या—सब कारणों का महाकारण परमेश्वर है । वह सनातन बीज है, जो कभी नष्ट नहीं होता, उसे अविनाशी, अजन्मा, अव्यय और सर्वाधार इसीलिये कहते हैं ।

'सनातन' शब्द मननीय है । यह उस आत्म तत्त्व का बोधक है जो स्वयं अपनी ही शक्ति मे स्थित है, पूर्ण, अक्षय, अविकारी और आदि-अन्त रहित है । आत्मा की शक्ति का प्रतीक 'सनातन' है, वह अपने परम तत्त्व और सत्त्व से समन्वित रहकर कभी नष्ट नहीं होता ।

प्राणिमात्र का सनातन कारण—

परमेश्वर प्राणियों का सनातन बीज है । उससे पहले कुछ नहीं

था। उसका विकास सृष्टि का विकास है। उसकी शक्ति किसी भी परिस्थिति में दबती, गलती, सड़ती या सूखती नहीं है। वह नित्य नये रूप में अंकुरित होता रहता है। जगत् में जो ज्योति है, तेज और जीवन है, वह सब अपने मूल रूप परमेश्वर से है। उसी से सबका विस्तार है, हुआ है और होगा। अतः उसे सनातन बीज कहते हैं।

सनातन बीज अपने सत् से सदा भाव भरा रहता है। उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं आता। उसका परिवर्तन नित्य नूतनता, पुष्टि और आवर्त्तन के लिये होता है, जरा और मृत्यु के लिये नहीं।

अपने सनातन बीज को परमेश्वर जब प्रकृति में रखता है, तभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है। (गीता १४।३)

सनातन बीज सर्व-समर्थ और स्वयं-सिद्ध आत्मा के रूप में प्राणिमात्र में रहता है और तत्त्वों तथा गुणों के साथ प्रकट होकर स्वभाव बन जाता है। अनेक रूपों में यह अव्यय बीज प्रस्फुटित होकर फूल-फल देता है। (गीता ६।१८)

यह सनातन बीज ईश्वरीय विभूतियों के रूप में बढ़ कर प्राणियों में अपनी विशेषता दिखाता है जो इसे सुरक्षित रख पाता है, बढ़ाता है, उसके लिये यह सुखदाता बन जाता है और कल्पलता के समान वांछित फल देता है। इस सनातन बीज के बिना चराचर जगत् में किसी की स्थिति और वृद्धि सम्भव नहीं है। (गीता १०।३९)

परमेश्वर का सनातन बीज बुद्धिमानों में बुद्धि का रूप धारण करता है।

अन्तःकरण की जो निर्मल और निर्विकार बोधमयी ग्रहण-शक्ति है, वह बुद्धि है। यद्यपि बुद्धि अपरा प्रकृति की अंग स्वरूपा है तो भी यह भगवान् की वह शक्ति है जो आत्मा का बोध कराती है। आत्मा की अभिव्यक्ति और परमात्मा की अनुभूति बुद्धि से ही होती है। जिसमें जितनी अधिक बुद्धि होती है, वह उतना ही अधिक

बुद्धिमान् कहा जाता है। बुद्धि का योग जिसे मिल जाता है वह कर्म कुशल व्यक्ति योग में स्थित होकर समभाव से व्यवस्थित कर्म करता हुआ जीवन-मुक्त हो जाता है।

जिसे परमात्मा का बुद्धि तत्त्व नहीं मिलता वह भी संसार में जीवित रहने के लिये कर्म करता है, परन्तु उसके कर्म उसे दीन-हीन बना कर बाँध लेते हैं। जिसे बुद्धि-योग मिल जाता है वह मेधावी, विवेकशील, प्रज्ञावान और प्रतिभावान होकर कर्मों को बाँध लेता या साध लेता है, उसके कर्म एक स्वयं-सञ्चालित यन्त्र की भांति होते हैं।

जिन्हें कर्म बाँधते नहीं, नचाते नहीं, चिन्तित और क्षीण नहीं करते, उनमें एक अदम्य तेज विकसित रहता है। तेज परमेश्वर का रूप है। श्रीकृष्ण ने कहा—

मैं तेजस्वियों का तेज हूँ—

जल मे रस, सूर्य और चन्द्र मे प्रभा, वेदों मे प्रणव, आकाश में शब्द, पृथ्वी मे गन्ध, अग्नि में तेज; ये सब बाहरी प्रकृति या अपरा प्रकृति के प्रतीक हैं। इनमें जब परा प्रकृति मिलती है, तब ये जीव धारियों में रस, प्रभा, प्रणव, शब्द, गन्ध, तेज, जीवन, बुद्धि आदि के रूप में प्रकट होते हैं।

अग्नि में या सूर्य-चन्द्र मे जो तेज है, वही जब प्राणियों मे उतरता है तो प्रकाश-मात्र नहीं रहता वरन जीवनी शक्ति, पुरुषार्थ, पवित्रता, मधुरता, कान्ति, ओज, तेज, बल, विक्रम और बुद्धि का साकार एवं रचनात्मक रूप धारण करता है।

सद्गुणों से सम्पन्न होकर मनुष्य तेजस्वी हो जाता है। जगत् और जीवों पर उसका प्रभाव पड़ता है। उसके प्रत्येक कर्म, वचन और अवलोकन मे ओज और तेज रहता है। तेज परमेश्वर रूप है। बुद्धिमान पुरुष परमेश्वर रूपी सूत्र में गुँथे रहने के कारण सदा सतेज रहते हैं।

तेज के साथ शक्ति, बल, विक्रम का अटूट सम्बन्ध है। अतः श्रीकृष्ण ने कहा—

११

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

बलम्, बलवताम्, च, अहम्, कामरागविवर्जितम्, धर्माविरुद्धः, भूतेषु, कामः, अस्मि, भरतर्षभ ।

भरतर्षभ=हे भरतश्रेष्ठ, अहम्=मैं, बलवताम्=बलवानों का, कामरागविवर्जितम्=काम और राग से रहित, बलम्=बल हूँ, च=और, भूतेषु=प्राणियों में, धर्माविरुद्धः=धर्म के अनुकूल, कामः=काम, अस्मि=हूँ ।

हे पार्थ ! मैं कामादि-राग-विहीन बल बलवान् का ।
मैं काम भी हूँ धर्म के अविरुद्ध विद्यावान् का ॥

अर्थ—हे भरत श्रेष्ठ ! मैं बलवानों का काम और राग से रहित बल हूँ और प्राणियों में धर्म के अनुकूल काम हूँ ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण एक योग-सिद्ध, अनुभवी और कर्मनिष्ठ अवतारी पुरुष थे । उनके ज्ञान में केवल आदर्श ही नहीं है, संसार के व्यवहार में सत्यनिष्ठ या आत्मवान रहने की रचनात्मक साधना है । अतः उन्होंने कहा—

मैं बलवानों का काम और राग-रहित बल हूँ—

प्राकृत बल में विकार आ सकता है । अपरा प्रकृति के गुणों और तत्त्वों से प्राप्त बल कितना ही बढ़ जाये, उससे अहं, राग-द्वेष और कामनाओं की वृद्धि ही होती है । अपरा प्रकृति में जब परा प्रकृति का आध्यात्मिक बल मिलता है तभी वह सत्वनिष्ठ और सफल

होता है। उपनिषदों मे एक प्रेरक कथा है—

एक बार वायु, अग्नि, जल आदि देवता अभिमान से अपने आपको एक दूसरे से बडा मानने लगे। उसी समय एक यक्ष ने वहाँ आकर कहा—

'वायुदेव! आपमे कितनी शक्ति है?'

वायु ने उत्तेजित होकर कहा—'मेरी शक्ति का अन्त नहीं है, मैं अपने वेग से ब्रह्माण्ड को उलट पुलट सकता हूँ।'

यक्ष ने एक तिनका आगे रखकर कहा—'कृपया, इसे उडाइये।'

वायु ने अपना सारा बल समेट कर लगाया, पर वह तिनके को न हिला सका।

यक्ष ने अग्निदेव की ओर देखा और कहा—'आप भी अपना बल दिखाइये।'

अग्नि ने प्रचण्ड होकर कहा—'मेरी जिह्वायें पलभर मे ब्रह्माण्ड को चाट सकती है। मुझमे चराचर को भस्म कर देने का बल है।

यक्ष ने विनम्रता से कहा—'केवल इस तिनके को भस्म कर दीजिये।'

सारा बल लगाकर अग्नि थक गया, तिनका ज्यों का त्यों रहा।

जल देव ने गर्जन किया—यक्ष ने जल से भी तिनका बहाने के लिये कहा। अनेक प्रकार से उमड घुमड कर भी जल देवता तिनके को नहीं बहा सके।

देवताओं का बल और अह लज्जित हुआ। उन्होंने यक्ष को पहिचाना, उसकी स्तुति की और सबने एक स्वर से कहा कि परम बल केवल परम पुरुष मे ही है, उसीके दिये हुए बल से देवता, मनुष्य और कोटि-कोटि जीव बलवान है।

उपनिषद् की यह कथा परम बल या ईश्वरीय बल की प्रतिष्ठा करती है और उसे धारण करने की प्रेरणा देती है।

बल जीवन का सबसे बड़ा संबल है, परन्तु बल में जब राग-द्वेष, अहंकार और काम प्रवेश कर जाते हैं तो वह व्यर्थ, असमर्थ और निर्बल पड़ जाता है। बलहीन को लोक अथवा परलोक में कहीं स्थान नहीं मिलता। बलहीन आत्मा को भी नहीं जान पाता।

जिस बल में आत्मा या परमात्मा का बोध नहीं रहता, पवित्रता, विवेक, शान्ति, क्षमा, पुण्य और धर्म के गुण नहीं रहते, वह आसुरी बल कहलाता है। आसुरी बल त्यागने के योग्य है। गीता उसे नरक का द्वार मानती है। परमेश्वर का बल काम और राग उत्पन्न नहीं करता।

प्राणी पंचभूतों का पुतला है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण उसके जीवन में इस प्रकार ओत-प्रोत हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। अहंकार, लोभ, क्रोध, काम और मोह भी मनुष्य की वृत्ति और प्रवृत्ति में नित्य निवास करते हैं। अपने भोगों, वासनाओं और विकारों के कारण मनुष्य का बल क्षीण होता रहता है। विद्या-बल, बाहु-बल, धन-बल आदि ऐसा कोई बल नहीं है जो विषय सुख भोगकर निर्बल न पड़ जाय; फिर भी, मनुष्य विषय भी भोगता है और बल सम्पन्न भी रहना चाहता है। इसका एकमात्र उपाय है काम और राग रहित बल सञ्चित करना।

विषय भोगों से कभी सुख, शान्ति और आत्म-प्रसाद नहीं मिलता। गीता का निश्चित और स्पष्ट आदेश है— (गीता २।६४)

राग-द्वेष रहित होकर और 'वीतरागभयक्रोधः' होकर मनुष्य संसार के विषय भोगों को भोगकर भी प्रसन्न रह सकता है। प्रसन्नता

मे बल सुरक्षित रहता है और बुद्धि दृढ़ हो जाती है।

श्रीकृष्ण का अनुभवसिद्ध मत है—

जो ब्रह्मभूत, प्रशान्त मन जन, रज-रहित निष्पाप है।
उस कर्मयोगी को परम सुख प्राप्त होता आप है॥

जिसे ब्रह्म-दृष्टि मिल जाती है, जो प्राणियों मे ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, ब्रह्म कर्म करके ब्रह्म मे स्थित रहता है, जिसका मन सदा शान्त है, जिसे रजोगुण के विकार नहीं दबाते, उस निष्पाप कर्मयोगी को उत्तम सुख स्वयं मिलता है।

ऐसा बल जो विकारों को सिर नहीं उठाने देता, जो समर्थ रहकर परमार्थ कर्म करता है, वह दैवी बल या भगवान् का बल है।

दैवी सम्पत्ति सञ्चित करनेवाले, परमेश्वर का बल प्राप्त कर लेते है, आसुरी सम्पत्ति जोड़नेवाले ईश्वरीय बल को खोकर निर्बल और असमर्थ हो जाते हैं।

परमेश्वर का बल काम, राग आदि विकारों से रहित रहने के कारण धर्म की संस्थापना, दुराचार का अन्त, प्रेम का प्रसार, सेवा के कर्म, यज्ञों का विस्तार और उदार व्यवहार कराता है। दैवी बल पाने के लिये ही दैवी उपासना की जाती है।

श्रीकृष्ण का बल विकारों से कभी पराजित नहीं हुआ। उनका चरित्र परम पवित्र और महान् रहा। इसी कारण वे अति मानुषी-शक्ति से सम्पन्न पुरुषोत्तम और योगेश्वर कहलाते थे।

व्यावहारिक ग्रन्थ होने के कारण गीता मे कहीं पुष्पित वाणी या प्रज्ञावाद नहीं है। श्रीकृष्ण जानते थे कि काम और राग के बिना सृष्टि का चलना सम्भव नहीं है। काम राग-रहित रहना और सृष्टि को चलाना, इन दो विरोधी गुणों का समन्वय करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ ।'

प्राणियों में मैं धर्म के अनुकूल काम हूँ ।

'काम' प्राणिमात्र का दुर्जय शत्रु कहा जाता है। काम ज्ञान को ढक कर मनुष्य को पाप की ओर ले जानेवाला है। परन्तु अधर्म, पाप या अज्ञान की ओर वही काम ले जाता है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। सत्वगुण से उत्पन्न काम अध्यात्म प्रधान रहने के कारण धर्म के विरुद्ध नहीं जाता। धर्म वह तत्त्व है जो जीव और जगत् को धारण करता है तथा बल देता है। धर्म से ही लौकिक और पारलौकिक उन्नति होती है। धर्म एक व्यापक शब्द है जिसका सम्बन्ध सदाचार, नीति, कर्म-कला और जीवन-विज्ञान से है।

अन्तःकरण की चार प्रवृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं—विचार, संकल्प, चिन्तन और अनुभूति। जिसके द्वारा अन्तःकरण और उसकी वृत्तियाँ पवित्र और विकसित होकर कर्म करती हैं, उसे धर्म कहते हैं। जिस कर्म से आत्मा ढक जाता है, मन मरता है, चित्त चलायमान होता है, बुद्धि कुण्ठित पड़ जाती है, आत्म-सम्मान पर आघात लगता है— वह धर्म विरोधी कहा जाता है। जो काम धर्म का विरोधी है, मनुष्य की ज्योति बुझाता है, दीन-हीन, चिन्तित और निराश रखता है; वह वासनामय या साँसारिक काम पतन का कारण है।

जो काम धर्म-सम्मत है, उदार अभिलाषा से उत्पन्न है, जिसमें प्राणिमात्र का हित निहित रहता है, जिसमें सत्य, सेवा, त्याग, सदाचार और ब्रह्मचर्य की प्रधानता होती है; वह काम परमेश्वर का है। उससे क्षय या पतन नहीं होता। परमेश्वर का पथ नहीं छूटता और भागवत-भाव का प्रभाव निरन्तर बना रहता है।

तन-मन को क्षीण करनेवाला वासना जनित काम इन्द्रिय-

लोलुपता बढाता है, दु ख, रोग, व्याधि और जरा मे घसीटता है, अत त्याज्य है।

तन, मन को स्वस्थ, सबल और निर्विकार बनाने वाली आत्म-अभिलाषाओं और उदार इच्छाओं से इन्द्रियों का सात्विक और दैवी बल बढता है, उनका दिव्य रूपान्तर हो जाता है और वे सदा आत्मा के प्रकाश मे रहती है—इसी कारण मन उत्साह, साहस और प्रसन्नता से भरा रहता है, बुद्धि मे स्मृति और चेतना जागी रहती है।

परमेश्वर धर्म के अविरुद्ध काम को अपना काम मानता है। जो जान लेता है कि परमेश्वर का काम करने के लिये मेरा जन्म हुआ है, वह हनुमान जैसा बन जाता है। हनुमान से तात्पर्य है अतुलित बल का धाम, स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाला, दुष्कृतों का अन्त करनेवाला, परम ज्ञानी, सर्वगुण सम्पन्न, इस लोक मे भगवान् का प्रतिनिधि।

श्रीकृष्ण न स्पष्ट और निश्चित शब्दों मे कहा है कि मुझे वही पाता है जो— मत्कर्मकृत =मेरे लिये कर्म करनेवाला है।

मत्परम =मेरे परायण है।

तत्पर' =सदा तत्पर है।

इन सब आदेशों का अभिप्राय है, ऐसे कर्म करना जो धर्मानुकूल हों। धार्मिक कर्म ही शास्त्र सम्मत होते है, धार्मिक कर्म ही राष्ट्रीय और विश्व मगलकारी होते है।

श्रीकृष्ण उसी कर्म को स्वीकार करते है, जिससे जन-मगल और जग-मगल हो। सब स्वस्थ, सुखी और सम्पन्न हों।

प्रश्न यह उठता है कि शुभ कर्मों को जानता हुआ भी मानव उनमे नियुक्त नहीं हो पाता—अपनी शान्ति, शक्ति और सन्तुलन खो देता है, अव्यवस्थित और अनिश्चित रहकर धर्मविरोधी मार्ग पर चलता है, अपरा और परा प्रकृति को विकृत करके दण्ड पाता है, दु ख भोगता है, परमेश्वर को सूत्र माला से निकल कर बिखर जाता है, उसके प्रत्यक्ष होते हुए भी उसका अनुभव नहीं कर पाता और रस हीन, तेज-हीन, ज्ञान हीन, जीवन-हीन, बल हीन तथा बुद्धि हीन जीवन बनाता है। इसका कारण बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

१२

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥

ये, च, एव, सात्त्विकाः, भावाः, राजसाः, तामसाः, च, ये, मत्तः, एव, इति, तान्, विद्धि, न, तु, अहम्, तेषु, ते, मयि ।

च=और, एव=भी, ये=जो, सात्त्विकाः=सत्त्वगुण से उत्पन्न होनेवाले, ये=जो, राजसाः=रजोगुण से, च=तथा, तामसाः=तमोगुण से होनेवाले, भावाः=भाव हैं, तान्=उन सबको, इति=ऐसा, विद्धि=जानो (कि), मत्तः=मुझसे, एव=ही हैं, तु=किन्तु, अहम्=मैं, तेषु=उनमें, (और) ते=वे, मयि=मेरे में, न=नहीं हैं ।

सत और रज तम से प्रकट जो भाव वे मुझसे सभी ।
मुझमें नहीं वे और मैं उनमें नहीं रहता कभी ॥

अर्थ—और भी ये जो सत्त्वगुण से उत्पन्न होनेवाले एवं जो रजोगुण से तथा तमोगुण से होनेवाले भाव हैं, उन सबको ऐसा जानो कि मुझसे ही हैं, किन्तु मैं उनमें और वे मेरे में नहीं हैं ।

व्याख्या—परमेश्वर का समग्र रूप रहस्यमय भी है और अद्भुत भी । वह है भी और नहीं भी । उपरोक्त मन्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि जहाँ रस है, प्रकाश है, सार शब्द है, पौरुष है, तेज है, जीवन है, बीज है, बुद्धि का विकास है, निर्विकार बल और धर्म-सम्मत काम है, वहीं परमेश्वर है । ब्रह्मरस, ब्रह्मशब्द, ब्रह्मगन्ध, ब्रह्मतेज, ब्रह्मकर्म आदि से परमेश्वर प्रकट होता है ।

भावना के अनुसार व्यवहार होता है और व्यवहार के अनुसार

अपना-अपना संसार बनता है।

सम्पूर्ण जगत् परमेश्वर का भाव है। भाव उसे कहते हैं जो उत्पन्न हुआ है।

भवतीति भावः

जो होता है, वह सब भाव है। भाव दो प्रकार के होते हैं—(१) साकार और (२) निराकार। साकार भाव नेत्रों से देखे जा सकते हैं, कानों से सुने, मुख से बोले और हाथों से छुए जा सकते हैं।

सूर्य, चन्द्र, मनुष्य, देव-दानव, वन-पर्वत, नदी, समुद्र आदि सब साकार भाव हैं; इनमें जब मनुष्य की भावना मिलती है, तब वह इनसे लाभ उठाता है।

अन्तःकरण की सूक्ष्म क्रियायें मन-बुद्धि आदि निराकार भाव हैं; इनका प्रेरक और प्रकाशक कभी निराकार और कभी साकार भाव में रहता है। भाव कभी सात्त्विक, कभी राजस और कभी तामस गुणों से उत्पन्न होकर मनुष्य की चित्त-वृत्तियों में मिलते हैं। जब मनुष्य परमात्मा के भाव में विचरण करके या ब्रह्म व्यवहार करके अपने को गुणातीत बना लेता है, तब शुभ ही शुभ होता है, सत्त्व भाव में सुख और मंगल उसका स्वागत करके प्रसन्न होते हैं। जब वह राजस भाव में टिकता है, तब तृष्णा, अशान्ति, लोभमय संसार बन जाता है और जब वह तामस भाव में पड़ जाता है तब अकर्मण्यता, आलस्य, नींद, प्रमाद, विपरीत चिन्तन और अधोगति में पड़ा रहता है।

जानने और समझने की बात यह है कि ये सब भाव परमेश्वर से ही प्रकट हुए हैं। हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान, सरलता-कठोरता, सुख-दुःख, मुक्ति-बन्धन आदि भावों के मूल में परमेश्वर है। आत्मा है, इसी कारण ये सब भाव होते हैं, परा और अपरा प्रकृति मिलती

है तभी क्रियाशीलता आती है पर, परमेश्वर इन भावों से परे है।

और भी स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि मनुष्य जो भी करता है, वह अपने स्वभाव से करता है। मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव संस्कारों से बनता है। आत्मा की चिन्मय इच्छा-शक्ति, बलवती कर्म-शक्ति और प्रेरक ज्ञान-शक्ति गुणों के अनुसार मनुष्य से कर्म कराती है।

इस प्रकार परमेश्वर से भाव प्रकट होते हैं, पर यह निश्चित है कि परमेश्वर इन भावों में नहीं रहता और ये भाव परमेश्वर में नहीं रहते, यही अपरा और परा प्रकृति से ऊपर रहनेवाले परमेश्वर की विशेषता है।

ब्रह्म सबमें रह कर किसी में नहीं रहता, कहीं आसक्त नहीं होता। परमेश्वर के बिना किसी का रहना सम्भव नहीं है, पर परमेश्वर सबसे अलग रह सकता है, वह किसी प्रकृति में नहीं बँधता।

नदी समुद्र में मिल कर समाप्त नहीं होती। समुद्र मेघ बन कर सूख नहीं जाता। मेघ बरस कर फिर भर जाते हैं। बीज एक वृक्ष को खड़ा करके अनन्तों बीज बना लेता है—कहीं एक में समाप्त नहीं होता। इसी प्रकार परमेश्वर की बात है, सब उससे हैं, पर उसकी शक्ति का कहीं अन्त नहीं है; क्योंकि वह सबमें रह कर भी कहीं समाप्त नहीं होता।

परमेश्वर सबमें है, पर सब परमेश्वर में नहीं हैं। भाव परमेश्वर से हैं, पर सब भावों में परमेश्वर नहीं है और परमेश्वर में भाव नहीं हैं। इस अभाव से उसकी शक्ति नहीं घटती, इसीलिये वह सर्वशक्तिमान् है। सार की बात यह कि गुण परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं, पर परमेश्वर गुणातीत है। मनुष्य सात्त्विक, राजस या तामस भावों में पड़ कर वैसे ही स्वभाव का बन जाता है, पर परमेश्वर एकरस रहता है, उसका निजानन्द कभी नहीं सूखता। अपनी भूल-भटक के कारण मनुष्य उसे नहीं देख पाता, नहीं जान पाता। श्रीकृष्ण ने कहा—

१३

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

त्रिभिः, गुणमयैः, भावैः, एभिः, सर्वम्, इदम्, जगत्,
मोहितम्, न, अभिजानाति, माम्, एभ्यः, परम्, अव्ययम् ।

इदम्=यह, सर्वम्=सब, जगत्=जगत्, एभि=इन्ही, त्रिभि=तीनो, गुणमयै=गुणमय, भावैः=भावो से, मोहितम्=मोहित हो रहा है, एभ्य=तीनो गुणो से, परम्=परे, माम्=मुझ, अव्ययम्=अव्यय को, न=नही, अभिजानाति=जानता ।

इन त्रिगुण भावों में सभी भूला हुआ संसार है।
जाने न अव्यय-तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है ॥

अर्थ— यह सब जगत् इन्हीं तीन गुणमय भावों से मोहित हो रहा है, तीनों गुणों से परे मुझ अव्यय को नहीं जानता।

व्याख्या—परमेश्वर को न जानने का कारण मोह है और मोह का कारण त्रिगुण भावों मे भूल जाना है। मनुष्य की अन्तर्चेतना जब ठीक-ठीक काम नहीं करती, बुद्धि सत्त्व, रज या तम से ढक जाती है और जब वह प्रकृति के इन गुणों की आधीनता स्वीकार कर लेता है, तब मोह उत्पन्न होता है। मोह की अवस्था में विवेक शक्ति काम नहीं करती। जब अहमात्मा प्रकृति की प्रेरणा से कर्म करता है, पुरुष को नहीं देख पाता, मन की चेतना का आत्म-बोध आच्छादित हो जाता है, तब ही मोह उत्पन्न होता है।

मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप से हटकर मिथ्या या असत् रूप में तभी पड़ता है जब त्रिगुणों से पकड़ा-जकड़ा जाता है।

मनुष्य में जो आत्मा है, वह नित्य मुक्त, स्वतन्त्र और अविकारी है। जीव से सम्बन्ध जोड़ने पर इस आत्मा के दो भाग हो जाते हैं (१) वासनामय (२) नित्यमुक्त—सनातन।

वासनामय पुरुष तीनों गुणों से प्रभावित होता है। जो गुण उसमें प्रबल हो जाता है, वही उसका सञ्चालन करता है। यह वासनामय पुरुष ही अहंकारात्मा है। परिस्थितियों के अनुसार गुणों की वृद्धि से यह परिवर्तनशील है। इसी कारण वासनामय पुरुष का मन पल-पल पर बदलता है, बुद्धि दृढ़ या स्थिर नहीं रहती।

तीनों गुणों से मोहित होकर ही गुणों के कर्म को मनुष्य अपना कर्म मान लेता है। गुणों के व्यक्तित्व को अपना समझ लेता है। यह मोह मानव को गुणों से परे रहनेवाले परमेश्वर को जानने और देखने नहीं देता।

परमेश्वर तीनों गुणों से परे अव्यय है—

मनुष्य में जो सदात्मा है या नित्य मुक्त सनातन पुरुष है, वह अपरा और परा प्रकृति से परे तीनों गुणों के बन्धन से रहित है। वह कभी जड़ नहीं पड़ता, स्वयं प्रेरक और प्रकाशक है। अपने ही चैतन्य से पूर्ण और पुष्ट है। इस नित्य मुक्त आत्म-पुरुष की सनातन, शान्त और सर्वशक्तियों से सम्पन्न सत्ता में रहनेवाला गुणों के जाल या जंजाल में नहीं पड़ता। कामनायें उसी को घसीटती हैं जिसके विवेक को इन्द्रियों की ओर जानेवाला मन हर लेता है और जिसके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों पर तीनों गुण अपना अधिकार जमा कर शासन करते हैं।

गुण कर्म कराते है, उस पराधीन कर्म से मोह होता है। मोह से शक्ति व्यय होती है। शक्ति न रहने से बुद्धि क्षीण हो जाती है, बुद्धि की क्षीणता से मनुष्य परमेश्वर के अव्यय तत्त्व को नहीं जान पाता। परमेश्वर को जान लेनेवाला मोह और क्लेशों से छूट जाता है।

ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानि क्षीणैं क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि । (श्वेत १।११)

उस सर्वेश्वर परमेश्वर के पास पहुँच कर उसे जान लेने से सारे बन्धन अनायास ही टूट जाते है। क्लेशों का अन्त हो जाने के कारण जन्म और मृत्यु के दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।

इस प्रकार अपरा और परा दोनों प्रकृतियाँ त्रिगुणात्मिका माया का जाल बुनती है। ये प्रकृतियाँ जब गुणों से छूट कर अपने उन्नतर रूप मे आती हैं, तब दिव्य प्रकृति या आध्यात्मिक प्रकृति बनती है। आध्यात्मिक प्रकृति परम पुरुष की ओर चलती है और अपने आत्म-बोध के कारण जीव को मुक्त रखती है।

गुणों के सीमित आनन्द मे बंध जानेवाला, परमेश्वर रूप अनन्त आनन्दमयी सृष्टि मे रहकर भी आनन्द नहीं पाता। सीमित रूप मे फँस जानेवाला असीम रूप का दर्शन करने योग्य नहीं रहता। सीमा मे बध जाने का नाम मोह है। मोह मे फँसा हुआ मानव, मोह से परे रहनेवाले अनन्त-शक्तिशाली परमेश्वर को नहीं देख पाता। परमेश्वर किसी सीमित रूप अथवा गुण मे नहीं बधता। मुक्त पुरुष ही उस मुक्त पुरुषोत्तम तक पहुँचता है।

मुक्त अवस्था मे चेतना विकसित रहती है। अहकार के मिथ्या प्रपञ्च समाप्त हो जाते है। नित्यात्मा प्रकृति पर शासन करता है और दैहिक वासना, अहं जनित ममता, राग, भय और विकारों से मुक्त होकर या विगत-ज्वर होकर ससार मे निरन्तर आगे बढ़ता है।

इस मुक्तावस्था पर पहुँचने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—

१४

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

दैवी, हि, एषा, गुणमयी, मम, माया, दुरत्यया, माम्, एव, ये, प्रपद्यन्ते, मायाम्, एताम्, तरन्ति, ते ।

एषा=यह, मम=मेरी, गुणमयी=त्रिगुणमयी, दैवी=दैवी, माया=माया, हि=निस्सन्देह, दुरत्यया=दुस्तर है, ये=जो, माम्=मेरी, एव=ही, प्रपद्यन्ते=शरण में आते हैं, ते=वे, एताम्=इस, मायाम्=माया को, तरन्ति=पार कर जाते हैं ।

यह त्रिगुण दैवी घोर माया अगम और अपार है ।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है ॥

अर्थ—यह मेरी त्रिगुणमयी दैवी माया, निस्सन्देह दुस्तर है, जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे माया को पार कर जाते हैं ।

व्याख्या—जो जानी नहीं जाती उसे माया कहते हैं । जो अस्थिर है, परिवर्तनशील है, असत् और अन्तवान है—वह सब माया है ।

वह भी माया है जो अपने बन्धन में बाँध कर जीव को बलात् नचाती है । माया वह पट है जो जीव और ब्रह्म के बीच में पड़ कर सत्य को नहीं देखने देती । माया प्रकृति की छाया है । माया के खेल में जीव स्वयं अपने ही हाथों से, अपनी ही इच्छा से आँखें बन्द करता है और ब्रह्म को ढूँढ़ने के लिये या छूने के लिये आँख-मिचौनी खेलता है ।

बन्दर जब लोटे मे रखे चनों को देखता है तो हाथ डाल कर चनों की मुट्ठी भर लेता है। बँधी मुट्ठी लोटे में फँस जाती है। बन्दर व्याकुल और भयभीत होता है, समझता है कि किसी ने उसे पकड़ लिया। यदि मुट्ठी खोल दे तो छूट सकता है, पर मोहवश मुट्ठी नहीं खोलता। साँसारिक वस्तुओं को पकड़ कर न छोड़ना और न छोड़ने के कारण अपने आप अपने को फँसा लेना माया है।

पक्षी दानों के लोभ से माया के जाल मे फँसता है। पानी से उत्पन्न काई जैसे पानी को ढक लेती है, वैसे ही जीव से उत्पन्न मोह जीव को ढकता है। माया का ढक्कन या परदा हट जाय तो जीव और ब्रह्म एक-दूसरे को प्रत्यक्ष देख लें।

माया दो प्रकार की होती हैं-(१) दैवी माया (२) आसुरी माया।

दैवी माया त्रिगुणात्मक प्रकृति को कहते हैं। मनुष्य जो कुछ देख रहा है, वह सब दैवी माया है। माया परमेश्वर की परा और अपरा प्रकृति का ही नाम है।

दैवी माया यद्यपि अगम और अगाध है तो भी उसमें देव-शक्ति रहती है। उसके द्वारा शुभ होना सम्भव है।

दूसरी आसुरी माया है। उसमें धोखा ही धोखा है। उससे कभी शुभ और मंगल नहीं हो सकता। वह केवल फँसाने का कार्य करती है। माया से छूटने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—

१. यह मेरी त्रिगुणमयी माया अगम और अपार है

२. जो मेरी शरण में आते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं।

इस मन्त्र में मुक्त होने की विद्या है। मुक्ति-विद्या जानने के लिये यह समझना आवश्यक है—

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।'

प्रकृति को माया जानो और परमेश्वर को माया वाला।

परमेश्वर ने प्रकृति को आधीन करके सृष्टि उत्पन्न की है। प्रकृति के ज्ञान से स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु, पदार्थ और चराचर में परमेश्वर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रहता है। रस, ज्योति, शब्द, पौरुष, गन्ध, तेज, तप, बल, बुद्धि आदि में परमेश्वर की विभूति का ही दर्शन है। परमेश्वर इतना स्पष्ट और खुला होने पर भी देखने और जानने में नहीं आता यही उसकी माया है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और पृथ्वी पर जो कुछ है— वृक्ष, वनस्पति, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, स्थावर-जंगम, सर-सरिता, पर्वत, वन, नगर—सब परमेश्वर की अद्भुत कारीगरी, कला-कौशल या माया के प्रतीक हैं।

अखिल विश्व चाँद-सूरज, नक्षत्र-ग्रह आदि एक-दूसरे के सहारे आकर्षण-विकर्षण, ऋत् और सत् के नियम और विधान से स्थित हैं; यह सब माया ही है।

मनुष्य का जन्म, जीवन, कुशलता, कार्य-विधि, विस्तार, व्यवहार, कला-कृतियाँ और एक-से-एक उत्तम, आकर्षक व प्रभावशाली निर्माण आदि माया ही है।

परिवर्तन, रूपान्तर, पुनरावर्तन, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, दुःख, दोष, भय, ताप – सब माया के ही खेल हैं।

परमेश्वर अपनी माया से मोहित नहीं होता। न उसमें बँधता है और न उसके आधीन होता है। इसी कारण वह जन्म-मृत्यु रहित अव्यय और सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान है। अपने अवतरण का रहस्य बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है –

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

यद्यपि अजन्मा, प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम ।
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूँ जन्म माया से स्वयम ॥

मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ। सब प्राणियों का ईश्वर हूँ। अपनी प्रकृति को आधीन करके अपनी माया से प्रकट होता हूँ।

प्रकृति रूप माया को आधीन करने का अभिप्राय है—पृथ्वी, जल, अनल, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, अपरा प्रकृति और जगत् को धारण करनेवाली जीवरूप परा प्रकृति का सदुपयोग करना, विकृत न होना, सुकृत रहना। माया को अपनी आत्म-शक्ति से प्रेरित तथा प्रकाशित करके दिव्यभाव में रहना। प्रकृति या माया पर शासन अपने अनुशासन से ही होता है। परमेश्वर अपने अनुशासन में रहता है। उस पर परप्रभाव नहीं पड़ता। इसी कारण वह सब पर अनुशासन करता है, सर्व-समर्थ है।

ऐसा समर्थ परमेश्वर अपनी माया (कला और कुशलता, योग और शक्ति, वैभव और विभूति) से स्वेच्छापूर्वक अवतार लेता है।

स्वेच्छा से आना अवतरण है, परेच्छा या बन्धन में बँधकर आना जन्म-मरण है। परमेश्वर अपनी इच्छा से आता है, बन्धन-मुक्त है, माया का विस्तार करके भी उसमें आसक्त या लिप्त नहीं है। मनुष्य कर्मों के, संस्कारों के और प्रकृति के आधीन होकर आता है, अतः ग्रन्थियों में बँधा हुआ है, अपने कृत्य (माया) के आधीन रहता है, उसमें लिप्त होकर बँध जाता है।

ऐसा समझा जाता है कि मनुष्य स्वयं स्वतन्त्र नहीं है, कोई उससे कर्म कराता है और वह करता है। यही उसकी पराधीनता है—

उमा दारु योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥

अथवा

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

ईश्वर हृदय में प्राणियों के बस रहा है नित्य ही।
सब जीव यन्त्रारूढ़ माया से घुमाता है वही॥

परमेश्वर यन्त्र पर चढ़े हुए प्राणियों को माया से नचाता है। अर्थ और भाव दोनों स्पष्ट हैं, जो माया के यन्त्र पर चढ़ जाते हैं, उन्हें मायापति परमेश्वर माया से नचाता है। इसके विपरीत जो माया-यन्त्र को छोड़ कर परमेश्वर को पकड़ लेते हैं, उन्हें परमेश्वर पार लगाता है या मुक्त कर देता है।

'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'

जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं।

माया गुणमयी है। तीनों गुणों से रहित कोई नहीं है, इसी कारण माया दुरत्यया दुष्कर है।

श्रुति का एक प्रसिद्ध गीत है—

सेतूंस्तर ! सेतूंस्तर !! सेतूंस्तर !!!

इस पार से उस पार चल,
सीमित से अनन्त होजा,
वामन जैसे छोटे-छोटे पैर बढ़ा—
तीनों लोकों को नाप ले।

दुस्तरान् ! दुस्तरान् !! दुस्तरान् !!!

पार पहुँचना कठिन है। क्योंकि संसार अपार है।

तर जाना आसान नहीं, क्योंकि त्रिगुणमयी जाल इस पार से उस पार तक बड़े विस्तार से फैला हुआ है।

मुक्त होना दुष्कर है, क्योंकि पार जाने का मार्ग लम्बा है, टेढ़ा-मेढ़ा है, भयंकर है, प्रवाह प्रतिपल बढ़ रहा है। जगत् और जीव अपनी जलन से जल रहा है।

हाऽवु ! हाऽवु !! हाऽवु !!!

फिर भी आनन्द, आनन्द, आनन्द—हो ! हो !! हो !!!

महान् आश्चर्य ! विचित्र बात, अद्भुत सत्य।

जीवन संगीत सुनो !

मधुर वंशी बज रही है।

स्वरों में स्वर मिलाओ।

गति में गति।

उमंग हो, उत्साह हो, स्फूर्ति हो।

तत्परता हो, अखण्ड उत्साह हो, श्रद्धा और विश्वास हो।

सत्य का आधार हो, परमेश्वर का प्यार हो।

दुस्तर माया को पार करने का अचूक साधन सुन !

स्वर्गच्छ ! स्वर्गच्छ !! स्वर्गच्छ !!!

स्वर्ग की ओर चल।

अमृत आनन्द की ओर चल।

सुख और शान्ति की ओर चल।

ज्योति और प्रकाश की ओर चल।

ऋत् और सत् की ओर चल।

इस दिव्य-गान के सार को श्रीकृष्ण ने अपने सूत्र में बाँधकर कह दिया—

यह त्रिगुण दैवी घोर माया अगम और अपार है।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है॥

पार जाने के लिये या मुक्त होने के लिये परा और अपरा प्रकृति से परे परमेश्वर की ओर आना आवश्यक और अनिवार्य है। इसके बिना माया से छूटने की कोई सम्भावना नहीं है।

शरणागत होना ही राजयोग, महायोग, परमयोग, आत्मयोग, ब्रह्मयोग और कृष्णयोग का ध्येय है। शरणागत होने का अर्थ है, अनर्थ से हट कर परम अर्थ में स्थित होना, समर्थ में लगना। निर्विकार, शुद्ध और सत्यशील होकर आत्मभाव में आना। निःस्वार्थ, निर्लिप्त, निश्चल और निश्छल होकर परमार्थ में लग जाना। कर्मों के भार को हल्का रख कर आधार पर टिके रहना। उसकी अनुमति से उसकी प्रसन्नता के लिये उसके अनुकूल कर्म करके अपनी हठ, वासना और प्रकृति का दिव्य रूपान्तर करना। सब ओर से हट कर उसकी ओर लक्ष्य बना कर चलना (मामेकं शरणं व्रज)। हर समय उसका स्मरण करना (मामनुस्मर), मन और बुद्धि को उसी में टिकाये रखना (मय्यर्पितमनोबुद्धिः), मत्पर और तत्पर रहना, श्रद्धा और उत्साह को क्षीण न होने देना, नियमित, संयमित, युक्त, नपा-तुला, सन्तुलित, व्यवस्थित, सरस, श्रद्धामय और अडिग विश्वासवान् होकर परम पद की ओर निरन्तर पैर बढ़ाना।

जो ऐसा करता है, वह मेरी शरण में आता है। जो मेरी शरण में आता है, वह माया को पार कर जाता है।

जैसे प्रेमी अपने प्रियतम को देख कर प्रफुल्लित हो जाता है, प्रेमावेश में अपने आपको और संसार को भूल जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर की ओर जानेवाला और परमेश्वर का साक्षात्कार करनेवाला, परमानन्द में निमग्न होकर माया को भूल जाता है, माया उसे नहीं व्यापती।

'नट सेवकहि न व्यापै माया।'

नट के सेवक को उसकी माया मोहित नहीं करती, क्योंकि वह उसे और उसके कार्यों को जानता है, अतः स्पष्ट देखता है।

तस्याभिध्यानाद्योजना तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।
(श्वेताश्वरोपनिषद् १।१०)

उस परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से, मन को उसमें लगाने तथा उसमें तन्मय हो जाने से, अभ्यास करते-करते माया की निवृत्ति हो जाती है।

अभ्यास होना चाहिये—नियम से, संयम से, स्नेह से, श्रद्धा से, सहज भाव से शक्ति में स्थित होकर, कृपा को धारण करके, आज्ञा में प्रवृत्त होकर, दीक्षा और गुरुत्व में टिक कर।

माया अपना ही बनाया हुआ बन्धन है, ऐसी ग्रन्थि है जिसके छूटे विना सुख नहीं मिलता।

शरणागत के लिये कोई बाधा नहीं रहती या उसे कोई बाधा डिगा नहीं पाती।

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा।
तिमि हरि शरण न एकहु बाधा॥

शरणागति—

शरणागति का भाव है—अपने आपको अपने इष्ट अथवा परमेश्वर के हाथों में सौंप देना। अपरा और परा प्रकृति—अपने तन-पंचभूतों, तन्मात्राओं, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और सर्वस्व को परमेश्वर की सेवा में लगा देना, जिसमे भी अपना ममत्व हो वह उसके अर्पण कर देना।

अर्पण होने पर न कर्त्तापन रहता है और न भोक्तापन, एकमात्र इष्ट मे स्थिति रहती है, कोई भी अनिष्ट और अभाव अपना प्रभाव

नहीं डाल पाता, निरन्तर स्मरण से विकार धुलते रहते हैं और इधर-उधर न भटकने के कारण शरणागत अपना दिव्य रूपान्तर करने में समर्थ हो जाता है।

शरणागत की साधना और आराधना उसकी सम्पूर्ण कामनाओं को अपने में समेट लेती है। शरणागत का अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का क्रीड़ास्थल नहीं योगभूमि या परमेश्वर का लीलाधाम बन जाता है। प्रियतम के प्रति उसके अथाह प्रेम-प्रवाह में संसार की चाह कहीं किसी समय बाधा नहीं डाल पाती। शरणागत को सुख में बोध और दुःख में भी समता अपने ही भाव से मिलती है। वह अपने जीवन को अपने सम्पूर्ण ज्ञान, भावों और क्रियाओं को प्रियतम की प्रसन्नता के लिये शुभ में लगाता है।

संक्षेप में कहें तो शरणागत 'विगत-काम-मद-क्रोध' होकर अपने भगवान् में रत रहता है। उसका सुरतयोग सदा प्रियतम का अलख जगाता है और वह उसके मार्ग को छोड़ कर किसी दूसरे मार्ग पर नहीं जाता।

शरणागति केवल अभिलाषा करने से नहीं होती। अपनी उदार अभिलाषाओं और प्रयत्नों में जब अपने भगवान् की कृपा मिलती है, तभी उसके प्रति पराभक्ति से शरणागति सुगम और सुलभ होती है। दैवी माया अगम और अगाध होने पर भी जब सत्त्वगुण का स्वभाव बना लेती है तब अपने शुभ, मंगलमय और दैवी कृत्यों से शरणागति में टिका देती है।

इसके विपरीत आसुरी माया परमेश्वर की ओर चलने और बढ़ने ही नहीं देती।

श्रीकृष्ण ने कहा—

१५

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

न माम्, दुष्कृतिनः, मूढाः, प्रपद्यन्ते, नराधमाः,
मायया, अपहृतज्ञानाः, आसुरम्, भावम्, आश्रिताः ।

दुष्कृतिन=खोटे कर्म करनेवाले, मायया=माया द्वारा, अपहृतज्ञाना=हरे हुए ज्ञानवाले, आसुरम्=आसुरी, भावम्=स्वभाव का, आश्रिता=आश्रय लिये हुए, नराधमा=मनुष्यों में अधम, मूढा=मूढ, माम्=मुझको, न=नहीं, प्रपद्यन्ते=भजते ।

पापी, नराधम, ज्ञान माया ने हरा जिनका सभी ।
वे मूढ़ आसुर बुद्धि-वश मुझको नहीं भजते कभी ॥

अर्थ—खोटे कर्म करनेवाले, माया द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले, आसुरी स्वभाव का आश्रय लिये हुए, मनुष्यों में अधम और मूढ़ मुझको नहीं भजते ।

व्याख्या—रजोगुण और तमोगुण में ही रहना जिनका स्वभाव बन जाता है या जिनकी प्रकृति रजोगुण और तमोगुण से ऊपर नहीं उठ पाती; ऐसे पुरुष पवित्र चरित्र होने का प्रयत्न ही नहीं करते। कभी-कभी दुःख, रोग और मृत्यु से घिर कर भयभीत होते हैं, सुकृत करने का संकल्प भी करते हैं; पर, प्रकाश की किरण उनके अज्ञान की गहरी गुफाओं तक नहीं पहुँचती और उनके कर्मों का कालापन दूर नहीं होता ।

आसुरी माया सदा दुराग्रह करती है। छल, कपट, धोखा, असत्य व्यवहार, क्रूरता, नास्तिकता, मूढ़ता, हठ आदि दुर्गुण आसुरी माया के चिह्न हैं। आसुरी माया के कर्म मोह में डालनेवाले होते हैं।

आसुरी माया चार भागों में विभाजित की जा सकती है—

(१) मोहात्मक (२) जड़ (३) दम्भयुक्त और (४) तुच्छ।

माया को मोहात्मक इसलिये कहते हैं कि वह धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान नहीं होने देती; भ्रम, संशय और कार्पण्य दोष उत्पन्न कर देती है। ठीक-ठीक विचार नहीं करने देती। अर्जुन को माया के मोहमय दोष ने घेर लिया था और वह 'धर्मसंमूढचेता:' होगया था।

अंधेरे में जो भुला दे और प्रकाश की ओर से आँखें बन्द करा दे, उसे भी मोह कहते हैं। तम मोहमयी माया से उत्पन्न होता है। जैसे अंधेरे में कुछ नहीं दीखता, वैसे ही मोह में कुछ नहीं सूझता।

मोह की अवस्था में बुद्धि जड़ पड़ जाती है। बुद्धि में चेतना शक्ति है। अपरा प्रकृति की होती हुई भी बुद्धि परा प्रकृति से सचेतन रहती है, परन्तु मोहात्मक माया उसे कुण्ठित कर देती है। इसी कारण माया को जड़ कहा है, वह देखती, सुनती, समझती और बोलती नहीं, मिट्टी और पत्थर की भांति है जो उसमें मिलता है, उसे भी वह अपनी जड़ता से ढक लेती है।

जड़ में जैसे प्रतीति नहीं होती, अनुभव-शक्ति और चेतना नहीं होती, वैसे ही माया अपने स्वरूप को नहीं जानती, जो माया में घिर जाता है, उसे भी अपने यथार्थ रूप का बोध नहीं रहता।

मनुष्य जितना अधिक माया से ढका रहता है, उतना ही जड़

पड़ कर अपना बोध खोता है। बताने पर भी वह अपने को वैसा नहीं समझता जैसा है। माया में लिप्त बुद्धि सदा उल्टे अर्थ लगाती है और सर्वत्र बुराई देखती है।

इससे भी अधिक भयंकरता यह है कि माया की जड़ता में पड़ा हुआ जीव दम्भी हो जाता है। वह जानता-समझता नहीं पर दिखाता यह है कि मैं सब कुछ जानता-समझता हूँ। मूर्ख होकर भी अपने को विद्वान् दिखाता है, दुराचारी होते हुए भी अपने को सदाचारी सिद्ध करने का दम्भ करता है। संसार में जो दिखावा, बनावट, कृत्रिमता और धोखा है, वह माया का दम्भ भाग है। भीतर से और, तथा बाहर से और, कहना कुछ करना कुछ, यह सब दम्भ है।

दम्भ एक प्रकार का ऐसा कपट है कि जितना बढ़ता है, उतना ही कुटिल होता जाता है। मनुष्य में जो नीचता, छोटापन, हीनता, दुर्भाव, दीनता आदि निर्बलता के दोष हैं, वे सब माया की कुटिलता के कुफल हैं।

बड़े से बड़ा होकर भी मनुष्य में जो छोटापन रह जाता है, वह माया की छाप है।

माया में रचे-पचे जीव परमेश्वर की शरण में नहीं आते। गीता के इस मन्त्र में ऐसे जीवों को पाँच भागों में बाँट दिया है—

(१) खोटे कर्म करनेवाले दुष्कृती (२) माया द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले (३) आसुरी स्वभाव का सहारा लेनेवाले (४) मनुष्यों में अधम और (५) मूढ़।

(१) दुष्कृती—

जो शुभ नहीं करते, दुराचार में ही सुख मानते हैं, खोटे और छोटे कर्मों में जिनकी प्रवृत्ति रहती है या जो पापी हैं, उन्हें दुष्कृती

चाहते हैं।

सुकृतों से ज्योति जगमगाती है, दुष्कृतों से बुझ जाती है। दुष्कृत अँधेरा करते हैं। ज्योति बुझाना, अँधेरा करना, अँधेरे में रहना: यह सब पाप है। पाप कर्मों से मन अशान्त रहता है, बुद्धि मैली हो जाती है, चित्त प्रफुल्लित और प्रसन्न नहीं रह पाता, अहं में आत्म-सम्मान, आत्म-ज्ञान और आत्म-संयम नहीं रहता। इस अवस्था में किये गये कर्मों की रेखा जीवन और जगत की कसौटी पर उज्ज्वल नहीं खिंचती।

रजोगुण और तमोगुण की आसुरी माया के दबाव से जो दुष्कृत करने लगते हैं, उनमें सत्य, सेवा, त्याग, सदाचार और विशुद्धता नहीं रहती; इसी कारण उन्हें परमेश्वर का नाम नहीं सुहाता। वे परमेश्वर के पथ पर नहीं आते। उसका स्मरण नहीं करते।

(२) माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले—

ज्ञान का काम है प्रकाश करना, शुभ में लगाना। ज्ञान मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। पर, ज्ञान जब माया के द्वारा हर लिया जाता है, तब वह परमेश्वर की ओर नहीं ले जाता।

रावण महाज्ञानी था। वेदों का ज्ञाता और नीतिज्ञ था। उसके ज्ञान को माया ने हर लिया। उसका स्वभाव रजोगुणी और तमोगुणी बन गया। यहाँ तक कि उसे जगत को पीड़ित करने में सुख मिलता था। अपने को सर्वोपरि मानकर वह सब पर शासन करना चाहता था। अपने ज्ञान से उसने चोरी की, व्यभिचार और हिंसा में फँस गया।

रावण वृत्ति या आसुरी वृत्ति के नर-नारी अपने ज्ञान से उल्टे मार्ग पर चलते हैं। महापुरुषों और शास्त्रों पर आक्षेप करने में, उन्हें

सदोष सिद्ध करने मे अपनी बुद्धि लगाते हैं। संस्कृति को विकृत, भक्त को अभक्त और सुकर्म को कुकर्म मानने मे ज्ञान लगाते हैं और विकृति को संस्कृति, अभक्त को भक्त तथा कुकर्म को सुकर्म मान लेते है।

अपने ही स्वार्थ, सुख और अहं से जिनका ज्ञान ढक जाता है उन्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परमेश्वर नहीं दिखता और वह अपनी आसुरी बुद्धि के आधीन रहकर परमेश्वर की शरण नहीं लेते।

(३) आसुरी स्वभाव का सहारा लेनेवाले—

स्वभाव आत्मा या परमात्मा का सहारा लेता है। स्वभाव में स्थित होनेवाला स्वधर्म का आचरण करता है। आत्मा का भाव या स्वभाव सदा सत्य मे टिकाता है, सद्भाव बढाता है, सत्कर्म कराता है और स्वस्थ रखता है।

कुभाव, परभाव या आसुरी भाव अपनी कुटिलता से कुमति उत्पन्न करता है, कुमार्ग पर चलाता है, कलुषित कर्म कराता है और कर्म मे कुशलता नहीं आने देता।

छल, कपट, असत्य, चोरी, निन्दा, हिंसा, नीरसता, कठोरता और अधर्म के दुर्गुणों को पकडे रहने के कारण स्वभाव आसुरी बन जाता है। आसुरी स्वभाव का सहारा लेनेवाले सदा विनाशात्मक कर्म करते है। जगत् मे भय, दुःख, द्वन्द्व और घृणा भरते हैं। आसुरी स्वभाव वाले दैवी भाव को समझ ही नहीं पाते और प्रत्येक बात का उल्टा अर्थ लगाते हैं। उल्टे मार्ग पर चलनेवाले परमेश्वर के सीधे मार्ग पर नहीं चल सकते।

(४) मनुष्यों में अधम—

आगे बढने के या उन्नति के रचनात्मक कर्म करनेवाले नर-नारी उत्तम और श्रेष्ठ कहे जाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष सदाचार मे नियुक्त रहते हैं,

मन से इन्द्रियों का नियोजन करके कर्म करते हैं। (गीता ३।७)

अधम उन्हें कहते हैं जो कामचोर, आलसी, दुराचारी, असावधान, विलासी, काम क्रोध परायण रहते हैं। दम्भ, हठ और अहंकार से काम करते हैं। (गीता ३।६)

अधम जन परमेश्वर की ओर जाते ही नहीं हैं और अपनी कुटिलाई के कारण जा भी नहीं पाते।

(५) मूढ़—

दम्भी, दुर्वचनी, हठी, कृतघ्न और अपने को बड़ा मानने वाला मूढ़ कहा जाता है। जिसकी चित्त-वृत्तियाँ ज्ञान को ग्रहण नहीं करतीं यह भी मूढ़ है।

महात्मा विदुर ने मूढ़ के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च कुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः॥

करता स्वयं कुकर्म किन्तु, जो देखा करता है पर-दोष।
वही मूर्ख सामर्थ्यहीन होकर भी जो करता है रोष॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम्।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥

नहीं धर्म का जिसे सहारा, नहीं अर्थ का जिसमें बल।
मूढ़ बुद्धि वह कर्म न करके, करता जो इच्छा केवल॥

इस प्रकार दुष्कर्म करनेवाले माया में मोहित आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों में अधम और मूढ़जन साँसारिक विषयों में फँसे रहते हैं, उन्हें दम्भ, दर्प और स्वार्थ-वासनायें घेरे रहती हैं; वे केवल भोग-विलास के लिये कर्म करते हैं, परमेश्वर की चर्चा और ज्ञान उन्हें नहीं सुहाता। ऐसे नर-नारी संसार में कृत्रिम आनन्द खोजते हैं और उसी के सहारे जीने का प्रयत्न करते हैं।

सच्चे आनन्द की खोज करनेवाले अपने सरल स्वभाव और सात्विक कर्मों की प्रेरणा से परमेश्वर के पथ पर चलते हैं—

१६

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

चतुर्विधाः, भजन्ते, माम्, जनाः, सुकृतिनः, अर्जुन,
आर्तः, जिज्ञासुः, अर्थार्थी, ज्ञानी, च, भरतर्षभ।

भरतर्षभ=हे भरतवंशियो में श्रेष्ठ, अर्जुन=अर्जुन, आर्त्त=दुखी, जिज्ञासु=जिज्ञासु, अर्थार्थी=अर्थार्थी, च=और, ज्ञानी=ज्ञानी, चतुर्विधा=चार प्रकार के, सुकृतिन=उत्तम कर्म करनेवाले, जना=मनुष्य, माम्=मुझे, भजन्ते=भजते है।

अर्जुन! मुझे भजता सुकृति-समुदाय चार प्रकार का।
जिज्ञासु, ज्ञानीजन, दुखी-मन अर्थ-प्रिय संसार का॥

अर्थ – हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! दुःखी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार प्रकार के उत्तम कर्म करनेवाले मनुष्य मुझे भजते हैं।

व्याख्या—राग, रोग, दुःख और मृत्यु से भरे संसार मे अखण्ड आत्मिक आनन्द देनेवाली भक्ति है। भक्ति का रस मिल जाने पर विषय-भोगों के आनन्द फीके पड़ जाते हैं।

पुण्यवान् अथवा शुभ कर्म करनेवाला मनुष्य ही भक्ति की ओर बढ़ता है। अशुभ कर्म भक्ति के मार्ग पर नहीं चलने देते।

जिनका स्वभाव सरलता और सात्त्विकता से सुधर कर पवित्र बन जाता है; सत्संग, पुरुषार्थ, गुरु-कृपा अथवा भगवत्-कृपा से

जिनके संस्कार पवित्र बन जाते हैं, उन्हें सुकृती कहते हैं।

ऐसे सुकृती जन दुःख में पड़कर चिन्तित और निराश नहीं होते, उनका दुःख भी उन्हें भगवान् की ओर ले जाता है। कामनायें उनसे दुष्कर्म नहीं करातीं, वरन् भगवान् में लगाती हैं। जिज्ञासा की पूर्ति करने के लिये भी वे भगवान् की शरण लेते हैं और ज्ञानी हो जाने पर भी भगवान् में ही टिके रहते हैं।

भगवान् से कुछ न मांगें तो भक्त का धीरज कैसे बँधे। दाता माँगनेवाले से प्रसन्न होता है। भगवान् सकाम भक्त को भी अपने हृदय से लगाते हैं और उसकी कामनायें पूर्ण करते हैं।

भक्ति के चार सोपान हैं, जिन पर क्रमशः चढ़नेवाला भगवान् तक पहुँचता है—

१—दुःखों से छूटने के लिये भक्ति। २—कामना-पूर्ति के लिये भक्ति। ३—जिज्ञासा के लिये भक्ति। ४—ज्ञान में स्थित होकर भक्ति।

१. दुःखों से छूटने के लिये भक्ति—

दुःखों से छूटने के लिये जो भक्ति करता है, वह आर्त्त अथवा दुःखी भक्त कहा जाता है। यद्यपि यह सकाम भक्ति है, परन्तु कामना से भगवान् की ओर जानेवाला भी पुण्यात्मा है। कामना भी हो और भगवान् से विमुखता भी हो तो घोर पतन होता है। दुःख में परमेश्वर पर श्रद्धा सहित विश्वास करके दुःख से छूटने के लिये प्रार्थना करनेवाला दुःख से छूट जाता है—भक्ति की यही विशेषता है।

कर्म में कामना आते ही घोर और निषिद्ध कर्म होने लगते हैं, ज्ञान में कामना होने से ज्ञान का पतन हो जाता है, परन्तु भक्ति से कामना भी पवित्र हो जाती है। भगवान् भक्त की कामना पूरी करके उसमें आत्म-विश्वास जगाते हैं और उसे सत्य के शिव और सुन्दर

मार्ग पर चलने का बल देते हैं।

आधि-व्याधि से पीड़ित, बलहीन, दुःखी, निराश, हारा हुआ, शारीरिक अथवा मानसिक कष्टों में पड़ा हुआ, शत्रु रोग-राग द्वेष आदि से भयभीत किसी भी प्रकार की विपत्ति में फँसा हुआ जीव आर्त्त कहलाता है।

संसार में रोनेवाले दुःखी जन अधिक हैं। कोई किसी के सामने जाकर रोता है, कोई किसी के सामने; परन्तु जग के जीवों को छोड़कर जो परमेश्वर के सामने रोता है, वह भक्त है और उसीका रोना सार्थक है; उसकी सकाम भक्ति को भी परमेश्वर स्वीकार करते हैं।

अपमानित और दुःखी ध्रुव परमेश्वर की गोदी में बैठकर रोया, उसका सिंहासन अचल होगया। द्रौपदी ने घोर दुःख में भगवान् का स्मरण किया, उसकी लाज भगवान् ने रखी। इन्द्र के कोप से पीड़ित ग्वाल-बाल अपने आराध्य देव के सन्मुख आर्त्त होकर रोने लगे, परमेश्वर ने अपने अनन्त बल से उनकी रक्षा की। गज और ग्राह की कहानी पशुओं पर भी करुणावतार भगवान् की अनन्त कृपा का स्मरण दिलाती है।

२. कामना-पूर्ति के लिये भक्ति—

प्राणिमात्र के पीछे किसी न किसी प्रकार की कामना रहती है। कामना-पूर्ति के लिये भगवान् की भक्ति करनेवाला अर्थार्थी भक्त कहलाता है। धन, धाम, स्त्री, पुत्र, सुख, वैभव मान, स्वर्गादि की कामना के लिये की गई भक्ति को भी भगवान् व्यर्थ नहीं जाने देते। भक्ति में यह एक ऐसा आकर्षण है जो सकामी को भी भगवत्-पथ पर लाकर मुक्ति सुलभ करा देता है। अनन्य भक्ति सकामता को खा लेती है और अपने प्रसाद से भक्त को पूर्णकाम करती है।

सुदामा जैसे दरिद्री को भगवान् ने धन-धाम से सन्तुष्ट किया। लोक में एक कहावत बन गई—

जो गरीब पर हित करै धन रहीम वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥

सुग्रीव ने भक्ति के बल से राज्य प्राप्त किया। विभीषण ने अनन्य भक्ति से भगवत्-कृपा प्राप्त करके अपने आसुरी भाव धो डाले। जो जिस कामना से भगवान की ओर आया है, उसने दीन-बन्धु करुणा-सागर भक्त-वत्सल भगवान् से वाञ्छित फल पाया है।

३. जिज्ञासा के लिये भक्ति—

परम तत्त्व को जानने की इच्छा से भगवान् की शरण लेनेवाले जिज्ञासु भक्त कहलाते हैं। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? क्यों आये हैं? जगत् का स्वरूप क्या है? जीवन का सत्य क्या है? मनुष्य का कर्तव्य क्या है? ब्रह्म क्या है? जगत् की उत्पत्ति कहाँ से हुई? संसार में रहकर सुख की प्राप्ति कैसे हो? आदि-आदि प्रश्न मनुष्य के मन को पकड़कर झकझोर देते हैं। उसके अन्तर से एक जिज्ञासा उठती है, जिज्ञासा से उत्पन्न व्याकुलता, जिज्ञासु को जब भगवान् तक ले आती है तब जीवन, जरा-मृत्यु, विकास-पतन, सुख-दुःखादि का रहस्य खुल जाता है; भगवान् हृदय में बैठकर ज्ञान का दीपक जगमग कर देते हैं और जिज्ञासु भक्त के भीतर-बाहर अनन्त प्रकाश भर देते हैं।

अर्जुन ने अपनी जिज्ञासा से श्रीकृष्ण को ऐसा प्रसन्न किया कि वे विश्वरूप में प्रकट होगये। एक ही बार गीता सुनकर भगवत्-कृपा से अर्जुन मोह-मुक्त होगये। परीक्षित ने जिज्ञासा के बल से सम्पूर्ण ज्ञान सुलभ कर लिया। उद्धव ने जिज्ञासामयी भक्ति से बुद्धि का अलौकिक योग प्राप्त किया।

४. ज्ञान में स्थित होकर भक्ति—

भक्ति का फल ज्ञान है। किसी भी प्रकार से भक्ति करनेवाला भगवान् की ओर चलता है। ज्यों-ज्यों पवित्रता बढ़ती है त्यों-त्यों ज्ञान बढ़ता है।

परमेश्वर सर्वत्र है, सर्वश्रेष्ठ है, उसकी शक्ति अनन्त है और उसकी कृपा मे जीवन की पूर्णता है, ऐसा जानकर जो भक्ति करते हैं, उन्हें ज्ञानी भक्त कहते हैं। ज्ञानी भक्त के लिये जीव-चराचर परमेश्वर का रूप हो जाता है। बिना प्रयोजन ही वह स्त्री, पुरुष, बालक, पशु, पक्षी सबसे हार्दिक प्रेम करता है।

ज्ञानी की भक्ति मे कृत्रिमता नहीं रहती। ज्ञानी प्रत्येक कर्म से परमेश्वर को प्रसन्न करता है। ज्ञानी की भक्ति न किसी प्रकार के दुःख से होती, न कामना से और न खोज से—वह स्वधर्माचरण के लिये भगवान् का साथ लेता है, इसीलिये भगवान् उसका साथ देते हैं। ज्ञानी भक्ति के लिये भक्ति करता है, भक्ति के आधार पर ज्ञानी विशुद्ध जीवन खड़ा करता है, परमेश्वर मे स्थित होकर वह सब प्रकार स्वस्थ और आत्मवान् रहता है।

शुकदेव, नारद, जनक आदि ने अपनी ज्ञानमयी भक्ति से परमेश्वर को प्राप्त कर लिया। ज्ञानी अपने सुख-दुःख को परमात्मा के चरणों पर चढ़ा देता है, परमेश्वर की प्रसन्नता मे वह प्रसन्न होता है, दैवी-भावों की वृद्धि और प्रतिष्ठा मे उसका जीवन लगता है। चींटी से ब्रह्म-पर्यन्त सबमे परमेश्वर को जानकर वह सबको प्रणाम करता है।

इस प्रकार ज्ञानी भगवान् का भव्य-दर्शन करता है, अखण्ड आनन्द मे निमग्न रहता है, किसी क्षण परमेश्वर का साथ नहीं छोड़ता, वह जीवन और जगत् को कृत-कृत्य करता है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण को कहना पड़ा—

१७

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

तेषाम्, ज्ञानी, नित्ययुक्तः, एकभक्तिः, विशिष्यते, प्रियः, हि, ज्ञानिनः, अत्यर्थम्, अहम्, सः च, मम, प्रियः।

तेषाम्=उन चारों प्रकार के भक्तों में, नित्ययुक्तः=सदायुक्त, एकभक्तिः=अनन्य भक्तिवाला, ज्ञानी=ज्ञानी भक्त, विशिष्यते=उत्तम है, हि=क्योंकि, ज्ञानिनः=ज्ञानी को, अहम्=मैं, अत्यर्थम्=अत्यन्त, प्रियः=प्रिय हूँ, च=और, सः=(वह) ज्ञानी, मम=मुझे, प्रियः=प्रिय है।

नित-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ जो मुझमें अनन्यासक्त है।
मैं क्योंकि ज्ञानी को परमप्रिय, प्रिय मुझे वह भक्त है ॥

अर्थ—उन चारों प्रकार के भक्तों में सदायुक्त, अनन्य भक्तिवाला, ज्ञानी भक्त उत्तम है, क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे प्रिय है।

व्याख्या—भक्ति से जीव के सम्पूर्ण मैल धुल जाते हैं, जीवन सफल होता है, संसार में सुख तथा शान्ति के मेघ उमड़ते हैं और सर्वत्र आनन्द एवं मधुरता बरसती है।

सकाम भक्तों में आर्त्त अपने दुःख दूर करने की इच्छा से भजन करता है, अर्थार्थी किसी पदार्थ की कामना से व्याकुल और अधीर होकर छटपटाता है, जिज्ञासु अपनी ज्ञान की पिपासा मिटाने के लिये भगवत्-रस की घूँटें पीता है, सब अपने-अपने प्रेम से

भगवान् को रिझाते हैं।

भक्ति का आरम्भ प्रेम से होता है और पूर्णता भी प्रेम से होती है। कपट छोड़कर प्रियतम की खोज का नाम भक्ति है। भक्त को भगवान् का ज्ञान होते ही वह ज्ञानी बन जाता है। ज्ञानी सब प्राणियों में परमेश्वर को देखकर घृणा-शून्य हो जाता है, सम्पूर्ण वासनाओं को वह अपने प्रियतम पर न्योछावर कर देता है। ज्ञानी पूर्ण भक्त होता है। ज्ञानी भक्त होने के लिये—

१—भगवान् में नित्ययुक्त होना चाहिये।

२—एक-भक्तिवाला होना चाहिये।

नित्ययुक्त का अर्थ है—नित्य भगवान् में रहना अथवा भगवान् में रहकर कर्म करना। ज्ञानी कर्म करते हुए सदा-सर्वदा भगवान् को अपने साथ रखता है।

सदा सावधान और संयमित रहनेवाला भी नित्ययुक्त कहलाता है। संसार में चूक होते ही ठोकर खानी पड़ती है। जिसकी ज्ञान की आँखें सदा खुली रहती हैं, जो आगा-पीछा देखकर चलता है, उतावलेपन में भूल से, भ्रम से अथवा भीड़-भाड़ में परिस्थितियों से टकराकर भी जो भगवान् का हाथ नहीं छोड़ता, वह नित्ययुक्त है।

नित्ययुक्त होकर भगवान् में रहना जीवन की सबसे बड़ी साधना है। जीवन के लिये सर्वोत्तम रचनात्मक कार्य यही है कि मनुष्य सदा सजग होकर भगवान् की उपस्थिति में कर्म करता रहे।

नित्ययुक्त भक्त अपनी इच्छाओं के बोझ से नहीं दबता। उसे कब क्या चाहिये, वह यह नहीं जानता। जैसे गृहलक्ष्मी पति के लिये आवश्यक वस्तुयें जुटा कर प्रसन्न और कृतकृत्य होती है, उसी प्रकार नित्ययुक्त भक्त का योगक्षेम भगवान् करते हैं।

नारद भक्त थे, उनका हित करना भगवान् को प्रिय था। काम की प्रेरणा से नारद ने भगवान् से रूप माँगा, परन्तु भगवान् ने उन्हें कुरूप कर दिया और भोगों के गड्ढे में गिरने से बचा लिया। नारद की आँखें खुल गयीं—वे ज्ञानी बन गये और अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को भगवान् के चरणों पर चढ़ा दिया। स्वधर्माचरण के लिये नारद के मार्ग में कोई बाधा नहीं रही, वे नित्ययुक्त होगये।

जो सदा भगवान् का होकर रहता है, उसके लिये दूसरा कोई नहीं होता, एक-भक्ति का यही अभिप्राय है। एक पूर्णशक्ति के हाथों में सब प्रकार जीवन को सौंपकर उसीकी प्रेरणा से, उसीकी प्रीति के लिये कर्म करने का नाम एक-भक्ति है। तुलसी के राम के शब्दों में—

तिन में प्रिय मोहि सो निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
'सर्व भाव भज कपट तज मोहि परम प्रिय सोइ॥'

एक-निष्ठ सेवक स्वामी को सदा प्रिय होता है। लोक-व्यवहार में भी स्वामी और सेवक की प्रीति की कसौटी एक-निष्ठा है। भेद, दुराव, काम-चोरी, अवहेलना, अवज्ञा, अपमान और उपेक्षा में परस्पर प्रेम नहीं रहता।

ज्ञान का उदय होते ही स्वामी और सेवक में परस्पर अनन्य प्रेम हो जाता है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहिन, सास-बहू, स्वामी-सेवक और राजा-प्रजा सबमें अनन्य प्रेम वहीं होता है जहाँ सदा सावधानी से पवित्र व्यवहार किया जाता है—यही ज्ञान है। ज्ञानी के वश में मनुष्य तो क्या, भगवान् भी हो जाते हैं। आत्म-भाव का अनुभव, पवित्र प्रेम से होता है। पवित्र प्रेम का मन्दिर किसी कामना पर नहीं ज्ञान की नींव पर खड़ा होता है—इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा—

१८

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थित स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

उदाराः, सर्वे, एव, एते, ज्ञानी, तु, आत्मा, एव, मे, मतम्,
आस्थितः, सः, हि, युक्तात्मा, माम्, एव, अनुत्तमाम्, गतिम् ।

एते=ये, सर्वे=सब, एव=ही, उदारा=उदार है, तु=परन्तु, मे=मेरा, मतम्=मत है, ज्ञानी=ज्ञानी, आत्मा=मेरा आत्मा, एव=ही है, हि=क्योंकि, स=वह, युक्तात्मा=युक्तात्मा, अनुत्तमाम=सर्वोत्तम, गतिम्=गतिरूप, माम्=मुझमें, एव=ही, आस्थित=स्थित रहता है ।

ये सब उदार परन्तु मेरा प्राण ज्ञानी भक्त है ।
वह युक्त जन सर्वोच्च-गति मुझमें सदा अनुरक्त है ॥

अर्थ—ये सब ही उदार है, परन्तु मेरा मत है कि ज्ञानी मेरा आत्मा ही है, क्योंकि वह युक्तात्मा सर्वोत्तम गतिरूप मुझमें ही स्थित रहता है ।

व्याख्या—परमेश्वर के पथ पर बढ़नेवाले प्राणी, उदार कहे जाते हैं । उदार वे हैं—जो संकुचित भावों को छोड़कर विशाल और व्यापक भाव को ग्रहण करते हैं ।

परमेश्वर सर्व-व्यापक है । उसकी ओर चलनेवाला कीट-पतंग ही क्यों न हो, वह भी उदार है । जैसे पति-परायणा स्त्री, एकमात्र अपने प्रियतम पर ही विश्वास करती है, उसी पर अपनी आशा और

अभिलाषा रखती है, किसी दूसरी ओर देखती भी नहीं; इसी प्रकार आर्त्त, कामना-प्रिय और जिज्ञासु भक्त, केवल परमेश्वर की ओर देखते हैं, इसीलिये वे उदार हैं।

इन तीन प्रकार के उदार भक्तों से भी ऊँचा, ज्ञानी भक्त है। ज्ञानी प्रेमामृत-समुद्र में निमग्न रहता है, उसे किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रहती। ज्ञानी की एक ही रट रहती है—

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु,
रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु - रहित अनुराग राम - पद,
बढ़ु दिन - दिन अधिकाई॥

यही सर्वोत्तम भक्ति है। नारद-भक्ति-सूत्र में इसका वर्णन इस प्रकार है—

"यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति"।
(११५)

भक्ति के प्राप्त होने पर भक्त, किञ्चिन्मात्र भी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता, न शोक करता, न द्वेष करता, न कहीं आसक्त होता और न भोग-विलास में उसका कोई उत्साह रहता।

ज्ञानी भक्त की ऐसी स्थिति, संसार को सुख-शान्ति से भर देती है। ज्ञानी के पास कहीं द्वेष-भाव नहीं रहता—

उमा जे राम-चरण रत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध॥

इसीलिये भगवान् ने घोषणा की है—

"मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति"

मेरा भक्त तीनों लोकों को पवित्र कर देता है।

भगवान् की शक्ति अनन्त है। भगवान् का भण्डार सदा भरा रहता है। फल पाने की कामना से जो उनके पास जाता है, वह कभी रीते हाथ लौट कर नहीं आता। परन्तु जो बिना किसी कामना के उन्हें नमस्कार करता है, उन पर श्रद्धा रखता है, उसके साथ भगवान् स्वयं हो लेते हैं।

भगवान् भक्त से कहते हैं कि कुछ माँग लो, जिससे मेरा भार हलका हो जाय, परन्तु ज्ञानी भक्त कहता है—

जेहि रहीम तन मन दियो कियो हिये में भौन।
तासों सुख दुख कहन की रही बात अब कौन॥

कामना के बीच में रहने से भक्त और भगवान् दो रहते हैं। कामना जैसे-जैसे हटती है, वैसे-वैसे ही भक्त और भगवान् मिलते जाते हैं। ज्ञानी, निष्काम हो जाता है, इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा—

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

ज्ञानी मेरा आत्मा ही है ऐसा मैं मानता हूँ।

ज्ञानी को अपना आत्मा कहकर भगवान् ने अपना अगाध प्रेम प्रकट किया है। श्रीकृष्ण का यह वाक्य पवित्र और अतिशय प्रेम की घोषणा करता है और भक्त तथा भगवान् में कोई अन्तर नहीं छोड़ता—

प्रेम हरी का रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होय द्वै यों लसै ज्यों सूरज अरु धूप॥

Love is God and God is love

भक्ति का प्रारम्भ—भक्त और भगवान दो से होता है, भक्ति की पूर्णता एक मे होती है—

Not one but two is the beginning and not two but one is the end.

"अखिल विश्व है एक तत्व का दिव्य-रूप अभिराम।
भेद-भाव का हो अभाव तो घट-घट में घनश्याम॥
पग-पग पर प्रिय पुण्य-भूमि है बात-बात में वेद।
जन-जन जग में दिव्य देवता रोम-रोम में राम॥

भक्ति और ज्ञान का योग होते ही भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। ज्ञानी भक्त ज्ञान से युक्त होकर सदा सर्वोच्च-गति-रूप परमेश्वर में निवास करता है—सच्चिदानन्द-रूप हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रियतम के साथ मिलकर प्रेमी अपना अस्तित्व ही लुप्त कर देता है। उसके लिये संसार में एक ही भाव बन जाता है, वह सदा सच्चिदानन्द में रहकर एक ही बात कहता है—

"एक भरोसा एक बल एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥"

ज्ञानी के लिये भगवान् से उत्तम और कुछ नहीं होता। उसका ज्ञान भक्ति के लिये होता है और भक्ति ज्ञान के लिये। वह परमेश्वर में रहता है और परमेश्वर उसमें। संसार उसके लिये पवित्र धाम बन जाता है। उसकी जीवन-यात्रा स्वयं सुखमय हो जाती है। वह संसार को सुखी और सम्पन्न बनाने के कर्म करता है। ज्ञानी जानता है कि ज्ञान, विज्ञान, सद्बुद्धि, कुशलता, नीति, कीर्ति, श्री और विजय सबका स्रोत परमेश्वर है। भरत, हनुमान्, अर्जुन आदि ने परमेश्वर के सेवक होकर संसार में अद्भुत कर्म किये हैं। जो भगवान् का आत्मा होकर रहता है उसके लिये क्या दुर्लभ है?

भक्त की ऐसी स्थिति आसानी से नहीं होजाती, इसके लिये उसे जन्म-जन्म हृदय से प्रयत्न करने पड़ते हैं—

१९

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

बहूनाम्, जन्मनाम्, अन्ते, ज्ञानवान्, माम्, प्रपद्यते,
वासुदेवः, सर्वम्, इति, सः, महात्मा, सुदुर्लभः ।

बहूनाम्=बहुत, जन्मनाम=जन्मो के, अन्ते=अन्त में, सर्वम्=सब कुछ, वासुदेव =वासुदेव ही है, इति=इस प्रकार, ज्ञानवान्=ज्ञानी माम्=मुझे, प्रपद्यन्ते=भजता है, स.=वह, महात्मा=महात्मा सुदुर्लभ =अति दुर्लभ है ।

जन्मान्तरों में जान कर, सब वासुदेव यथार्थ है ।
ज्ञानी मुझे भजता, सुदुर्लभ वह महात्मा पार्थ ! है ॥

अर्थ—बहुत जन्मों के अन्त में, सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार ज्ञानी मुझे भजता है, वह महात्मा अतिदुर्लभ है ।

व्याख्या—अनुभव एक दिन मे नहीं पकता । लगातार अभ्यास करते-करते जब दृढ़भूमि बन जाती है, तब धीरे-धीरे प्रभु के चरणों मे अनुराग होता है । अनुराग से जीव, बारम्बार ब्रह्म के सम्मुख आता है । प्रियतम की छवि, उसके नयनों मे बस जाती है, विकार उसे छोड़कर चले जाते है और फिर ऐसी स्थिति हो जाती है जिसमे टिका हुआ भक्त निःशंक होकर कहता है—

३—जो कामना-पूर्ति भी चाहते हैं और भगवान् को भी चाहते हैं।

४—इन सबसे ऊँची स्थिति उनकी होती है, जो कामनाओं को छोड़ देते हैं, परन्तु भगवान् को नहीं छोड़ते।

जीव चराचर में भगवान् का दर्शन करके जो निष्काम सेवा और प्रेममय भागवत जीवन बनाते हैं, वे ही महात्मा हैं। ऐसे महात्माओं का अस्तित्वमात्र विश्व को शान्ति और शुभ प्रेरणा देता है।

तीर्थ, सत्कर्म और शास्त्रादि पापियों को पवित्र करनेवाले कहे जाते हैं, परन्तु उनको भी पवित्रता देनेवाले ज्ञानी भक्त होते हैं—

'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि।'
(नारदभक्ति-सूत्र ६९)

भक्त तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म और शास्त्रों को सत् शास्त्र कर देते हैं।

भगीरथ से गंगाजी ने कहा कि मैं मृत्युलोक में कैसे चलूँ? पापीजन अपने-अपने पाप मुझमें डालेंगे, मैं उनके पाप धोते-धोते अपवित्र हो जाऊँगी। भला कहो कि मेरे पाप कैसे धुलेंगे?

भगीरथ बोले—'विषय-विकारों को विषहीन करनेवाले, विश्व को अपने हृदय की पवित्रता से भरनेवाले, शान्त स्वरूप ब्रह्म-लीन महात्मा जन तुम्हारे प्रवाह में स्नान करेंगे, उनके पवित्र अङ्ग के संग से तुम्हारे सारे पाप बह जायेंगे, क्योंकि उनके हृदय में समस्त पापों और विकारों के नाश करनेवाले भगवान् निवास करते हैं।'

उदार ज्ञानी भक्त जन भगवान् को पाते हैं और कामनाओं के पीछे दौड़नेवाले कामनाओं में ही उलझे रहते हैं—

२०

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

कामैः, तैः, तैः, हृतज्ञानाः, प्रपद्यन्ते, अन्यदेवताः,
तम् , तम् , नियमम् , आस्थाय, प्रकृत्या, नियताः, स्वया ।

स्वया=अपने, प्रकृत्या=स्वभाव से, नियता=विवश हुए,
तै-तै=उन-उन, कामै=कामनाओ से, हृतज्ञाना=हरे गये ज्ञानवाले,
तम तम=उस-उस, नियमम्=नियम को, आस्थाय=धारण करके,
अन्यदेवता=अन्य देवताओ को, प्रपद्यन्ते=भजते है ।

निज प्रकृति-प्रेरित कामना द्वारा हुए हत ज्ञान से ।
कर नियम भजते विविध विध नर अन्य देव विधान से ॥

अर्थ—अपने स्वभाव से विवश हुए उन-उन कामनाओ से हरे गये ज्ञानवाले, उस-उस नियम को धारण करके अन्य देवताओ को भजते है ।

व्याख्या चार प्रकार के भक्तों में से ज्ञानी भगवत्-स्वरूप हो जाता है, जिज्ञासु भगवत्कृपा से सतत प्रयत्न करता हुआ ज्ञानी बन जाता है और कामनाओं की पूर्ति होने पर आर्त्त तथा अर्थार्थी भक्तों का भगवान् मे अधिकाधिक दृढ विश्वास हो जाता है ।

जो केवल अनित्य पदार्थों की इच्छा करते हैं, उनसे मुक्तिदायिनी अनन्य भक्ति की साधना नहीं होती । वे अपनी स्वार्थ-साधना के लिये देवताओं की शरण लेते है, भगवान् तक न पहुँचकर देवताओं की

कर्म में प्रेम उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि श्रद्धा सत्य में प्रवृत्त करती है।

प्रेम की परिपूर्णता आनन्द देती है। प्रेम ही अपने पवित्र रूप में आनन्द है जिससे आनन्द मिलता है उसमें प्रेम होना स्वाभाविक है अथवा जिस साधना में—यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, सत्संग आदि क्रिया में—प्रेम हो जाता है उससे आनन्द अवश्य मिलता है।

प्राणियों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। मनुष्य अनेक प्रकार के 'तनु' बनाकर अपनी श्रद्धा और भावना के अनुसार उनकी उपासना करता है। मूर्तिपूजा, गुरुपूजा, पुस्तकपूजा, ज्योतिपूजा और परमेश्वर के किसी भी रूप की पूजा श्रद्धा और भावना सहित की जाने पर अवश्य पूर्ण होती है।

श्रद्धा और भावना के बिना एकाग्रता होनी सम्भव नहीं है। एकाग्रता के बिना अनन्यता नहीं आती और अनन्यता के बिना शक्ति बिखरी रहती है। मनुष्य में अनन्त शक्ति है। जहाँ भी उसकी शक्ति सब ओर से सञ्चित होकर लग जाती है वहीं आश्चर्यमयी परिपूर्णता और आनन्द का प्रसाद मिलता है।

परमेश्वर का महाकार्य यह है कि वह मनुष्य की इच्छानुसार उसकी श्रद्धा को अचल कर देता है। इच्छा करना जीव का कर्म है, इच्छा को शक्ति से समन्वित करके श्रद्धा का महाबल देना परमेश्वर का कार्य है।

परमेश्वर-रहित कर्म, उपासना और ज्ञान में अनिष्ट हो सकता है परन्तु परमेश्वर-सहित कर्म, अर्चन, वन्दन, यजन से इष्ट की सिद्धि होती है। श्रद्धा सहित मनुष्य किसी भी प्रकार की उपासना करे और किसी की भी उपासना करे उसमें परमेश्वर का योग मिलता है।

यह निश्चित है कि स्वार्थ कामनाओं से की गई उपासना कभी निजानन्द मे नियुक्त नहीं करती। कामना का जीवन सदा अशान्त रहता है। परन्तु यह भी निश्चित है कि किसी भी प्रकार का अर्चन, यजन, भजन, करते-करते न जाने किस समय सात्विक भाव उदय हो जाय और परमेश्वर की ओर मन मुड़ जाय। परमेश्वर प्रत्येक प्राणी को अपनी ओर आने का अवसर देता है। उसकी ओर एक पग उठते ही वह उदारता से बढ़नेवाले का हाथ पकड़ लेता है।

पिता की भांति परमेश्वर अपने पुत्रों को सदा सुखी और समुन्नत देखना चाहता है और जिस रूप मे मनुष्य मन लगाता है उसी रूप मे मिलता है।

प्रसिद्ध है कि परमेश्वर अपनी महाशक्ति से सर्वत्र व्याप्त है। उससे परे कहीं कुछ नहीं है। वह 'मैं' रूप से प्रत्येक वस्तु, पदार्थ और जीव मे विद्यमान है। अतः प्रत्येक अर्चन उसी को पहुँचता है। सकामी जन इस रहस्य को समझ नहीं पाते, सत्य और प्रेम से कर्म करनेवाले निष्कामी जन प्रत्येक रूप मे परमात्मा का साक्षात्कार करके उसे अङ्गीकार कर लेते हैं।

परमेश्वर भक्त की इच्छा-शक्ति के अनुसार श्रद्धा और अनन्यता बढ़ाता है और पुष्टि तथा तुष्टि प्रदान करता है, यही उसकी महानता है और इसी कारण प्राणी का किया हुआ कोई भी कर्म व्यर्थ नहीं जाता। प्रत्येक शुभ और अशुभ का फल मिलता है। जिसे परमेश्वर शुभ मे नियुक्त कर देता है वह उसके पथ पर चलकर घाटियों और पर्वतों को लाँघता हुआ उसके पास पहुँच जाता है।

भाव की विशुद्धता और श्रद्धा की दृढ़ता होते ही गुरु, इष्ट, देवता, मूर्ति, मन्दिर सब उसी ब्रह्म के रूप बन जाते हैं। परमात्मा की दी हुई श्रद्धा से की गई आराधना सकाम को भी पूर्णकाम कर देती है।

२३

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

अन्तवत्, तु, फलम्, तेषाम्, तत्, भवति, अल्पमेधसाम्, देवान्, देवयजः, यान्ति, मद्भक्ताः, यान्ति, माम्, अपि ।

तु=परन्तु, तेषाम्=उन, अल्पमेधसाम्=अल्प बुद्धिवालों का, तत्=वह, फलम्=फल, अन्तवत्=नाशवान्, भवति=है, देवयजः=देवताओं को पूजनेवाले, देवान्=देवताओं को, यान्ति=प्राप्त होते हैं, (और) मद्भक्ताः=मेरे भक्त, माम्=मुझे, अपि=ही, यान्ति=मिलते हैं ।

ये मन्दमति नर किन्तु पाते, अन्तवत् फल सर्वदा ।
सुर-भक्त सुर में, भक्त मेरे, आ मिलें मुझमें सदा ॥

अर्थ—परन्तु उन अल्प-बुद्धिवालों का वह फल नाशवान् है, देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही मिलते हैं ।

व्याख्या—मनुष्य में स्वभावतः स्वार्थ रहता है । जो परमेश्वर को साथ रखकर स्वार्थ कामना पूरी करना चाहता है वह किसी न किसी दिन परमार्थ के पथ पर पहुँच जाता है, परन्तु जो परमेश्वर को छोड़ कर स्वार्थ पूरा करना चाहता है वह परमार्थ के पथ पर चलकर भी वाञ्छित फल कभी नहीं पाता ।

अल्पबुद्धि (अल्पमेधसाम्) स्वार्थ-कामना पूरी करने में ही जीवन मानते हैं, उन्हें जो कुछ मिलता है वह अल्प होता है और शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । जो फल चाहते हैं वे अल्प-बुद्धिवाले हैं ।

उपासना से स्वार्थ-कामनायें पूरी अवश्य होती हैं परन्तु कामनाओं के फल में अमृत नहीं होता। मधुरता और रस का परमानन्द तो केवल परमेश्वर में ही है।

उपासक अपने इष्ट को पा लेते हैं। जो जिसकी ओर चलता है उसे वह मिलता है। देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को पाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय मे देवताओं का निवास है। गोस्वामी जी ने लिखा है—

इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। विषयभोग पर प्रीति सदाई॥

इन्द्रियों और उनके देवताओं को पारमार्थिक ज्ञान नहीं सुहाता, विषय भोगों मे ही उनकी प्रीति रहती है। जो सकामी पुरुष इन्द्रियों के देवताओं की पूजा करते हैं वे उन्हीं देवताओं को पाते हैं। जो आत्मदेव की पूजा करते हैं, आत्म-सुख के लिये कर्म करते हैं उनकी कामनायें भी पूरी होती हैं और वे परमात्मा को भी पा जाते हैं।

१—जो केवल फल की इच्छा करते हैं वे अल्प-बुद्धि कृपण होते हैं (कृपणाः फलहेतवः)

२—जो फल और परमेश्वर दोनों की इच्छा करते हैं वे सकामी भक्त होते हैं।

३—जो परमेश्वर की इच्छा करते हैं वे गोपीभक्त, परमभक्त, निष्कामी या आत्मवान् कहलाते हैं। ऐसे भक्त जीवन में ही निजानन्द, मुक्ति और पूर्णता पा जाते हैं।

आराधना और साधना जिसकी की जाती है उसी तक पहुँचाती है, परमेश्वर की आराधना से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त की शुद्धि मे बुद्धि यथार्थ कर्म करती है। यथार्थ कर्म से परमार्थ सधता है।

मनुष्य स्वार्थ का दास होने के कारण परमेश्वर में भाव नहीं बना पाता।

२४

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

अव्यक्तम्, व्यक्तिम्, आपन्नम्, मन्यते, माम्, अबुद्धयः, परम्, भावम्, अजानन्तः, मम, अव्ययम्, अनुत्तमम् ।

अबुद्धय=बुद्धिहीन पुरुष, मम=मेरे, अव्ययम्=अविनाशी, अनुत्तमम्=सर्वोत्तम, परम्=परम, भावम्=भाव को, अजानन्तः=न जानते हुए, माम्=मुझ, अव्यक्तम्=अव्यक्त को, व्यक्तिम्=व्यक्ति भाव को, आपन्नम्=प्राप्त हुआ, मन्यन्ते=मान लेते हैं ।

अव्यक्त मुझको व्यक्त मानव मूढ़ लेते मान हैं ।
अविनाशि अनुपम भाव मेरा वे न पाते जान हैं ॥

अर्थ—बुद्धिहीन पुरुष मेरे अविनाशी और सर्वोत्तम परमभाव को न जानते हुए मुझ अव्यक्त को व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मान लेते हैं ।

व्याख्या—निरुपाधि, नित्यशुद्ध, सच्चिदानन्द, परात्पर पुरुष की अर्चना से नित्य सुख मिलता है । ब्रह्म अनन्त और अव्यय है, व्ययशील मन और इन्द्रियों से उसका स्वरूप और स्वभाव समझ में नहीं आता । उसकी शक्ति भी अनन्त है अतः वह कहीं सीमित नहीं होती । ऐसे सच्चिदानन्द की उपासना छोड़कर किसी सीमित अल्प अथवा अनित्य की उपासना में लगा रहनेवाला अमृत फल नहीं पाता, फिर भी अपने स्वार्थ और इन्द्रिय सुखों के लिये नर-नारी सीमित उपासना करते हैं; उसकी महाशक्ति को व्यक्ति में नहीं समझ पाते ।

गीता के इस मन्त्र में अनन्त और असीम की उपासना करने की प्रेरणा है। इस मन्त्र के दो भाग हैं—

१—बुद्धि से काम न लेनेवाले विवेकहीन जन मेरे परात्पर परम भाव को नहीं जानते।

२—मेरे अव्यक्त स्वरूप को न जानकर मुझे व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मान लेते हैं।

अबुद्धयः

किसी में अल्प और किसी में विशाल बुद्धि होती है। कोई बुद्धि से तुच्छ एवं हीन कर्म करते हैं और कुछ बुद्धि को महान् और उत्तम कर्म में लगाते हैं। कुछ ऐसे हैं जो बुद्धि को केवल स्वार्थ-साधना में लगाते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो बुद्धि को परमार्थ में लगा देते हैं। हीन कर्म करनेवाले, स्वार्थ में रचे-पचे, विवेक शून्य और तत्त्व विचार न करनेवालों को अबुद्धयः—बुद्धिहीन कहते हैं।

अनुत्तमम् अव्ययम् परमभावम् अजानन्तः।

ब्रह्म निर्विकार है, निरुपाधि है, शुद्ध सच्चिदानन्द है, उसमें उत्तम, मध्यम या हीनभाव नहीं आता—वह उत्तम से भी उत्तम, किसी भी प्रकार की कल्पना से परे है, परात्पर है। सच्चिदानन्द की शक्ति कभी व्यय नहीं होती इसी कारण वह नित्य है। नित्यता में व्यय नहीं होता, व्यय हो जाय तो नित्यता नहीं रहती। परमात्मा नित्य है इसी कारण परम है। उसका भाव भी परम है और प्रभाव भी परम है, इतना परम कि मन और इन्द्रियाँ उस तक नहीं पहुँचतीं।

शुद्ध, निर्विकार, परमानन्द के भाव में टिक कर ही उस परम ब्रह्म को जानना सम्भव है। बुद्धिहीन जन अभाव में रहते हैं। भाव

में न टिक सकने के कारण परमात्मा के परम भाव को नहीं जान पाते।

अव्यक्तम् माम् व्यक्तिम् आपन्नम् मन्यते।

परमेश्वर अव्यक्त है। अव्यक्त का अर्थ है जो कहीं इन्द्रियों से न दिखता हो, मन से परे हो। विवेकी, मेधावी, प्रज्ञावान्, स्मृतिवान् जन उसके अव्यक्त तत्त्व को जान लेते हैं। बुद्धिहीन नहीं जान पाते।

कुछ कहते हैं अव्यक्त व्यक्त कैसे होगया? कुछ समझते हैं— पहले अव्यक्त था अब व्यक्त रूप में आया है और कुछ अव्यक्त और व्यक्त का यथार्थ भाव न जानकर मुझ अव्यय को व्ययशील व्यक्ति मान लेते हैं।

परमात्मशक्ति किसी सीमा में नहीं बँधती। वह अव्यक्त भी है और व्यक्त भी। व्यक्त में अव्यक्त समाता है—यही अवतरण लीला है। व्यष्टि में ही नहीं समष्टि में मानकर और जानकर जो प्रभु की उपासना करता है वही अमृत-फल पाता है।

परमेश्वर कर्माधीन, भाग्याधीन या मायाधीन होकर जन्म नहीं लेता—कर्म, भाग्य और माया का अनुशासक होकर प्रकट होता है। बुद्धिहीन जन इस तत्त्व को नहीं समझ पाते।

बुद्धिहीनता के कारण तुच्छ कामनायें उत्पन्न होती हैं, सकामी जन व्यक्ति के परम भाव या ईश्वरीय भाव की उपासना नहीं करते, केवल कामना पूर्ति के लिये उस तक जाते हैं, अतः कुछ तत्त्व नहीं पाते।

इस मन्त्र में अव्यक्त और व्यक्त का महत्त्वपूर्ण समन्वय किया गया है। बुद्धिहीन जन परमेश्वर को केवल अव्यक्त मान लेते हैं या केवल व्यक्त मान लेते हैं। प्रभु की मूर्तियों में असीम भाव न रखकर केवल सीमित भाव बनाते हैं, अथवा व्यक्ति में प्रतिष्ठित अव्यक्त को नहीं समझ पाते। अव्यक्त व्यक्त होता है और व्यक्ति में उसका

अव्यय एवं अव्यक्त भाव रहता है—यही आत्मज्ञान है और इसीमे विश्व कल्याण है। इस परम भाव का आश्रय लेकर जो शुभ मे नियुक्त होते हैं, शुभ कर्मों से सबमे समाये रहनेवाले उस अव्यय की उपासना करते हैं वे ही जीवन-मुक्त अमृत-फल पाते हैं।

उपासना उपासना मे भेद है। उपासना-रहित वासना दानवी-भाव है। वासना-सहित उपासना साधारण मानवी भाव है। वासना रहित उपासना दैवीभाव है।

अशक्त-स्वार्थी मे भावना बुद्धि नहीं होती। स्वार्थ-पूर्ति के लिये उपासना करनेवाले की भावना-बुद्धि बनने लगती है। परम तत्त्व को जानकर सच्चिदानन्द ब्रह्म मे टिकनेवाले निष्काम व्यक्ति की बुद्धि मे परम भाव उत्पन्न हो जाता है, उस परम भाव से वह परमेश्वर को एवं परमेश्वर द्वारा दिये गये अमृत फलों को पाता है और मधुरता, रस तथा आनन्द से नित्य तृप्त रहता है।

व्यक्त रूप मे भगवान् का प्रकट होना ही उनका दिव्य-जन्म रहस्य है। व्यक्त होकर भी अव्यय-कर्म या ऐसे कर्म करना जिनसे शक्ति का व्यय न हो—दिव्य-कर्म रहस्य है। व्यक्ति मे अव्यक्त को माने बिना उपासना का अमृत आनन्द नहीं मिलता। केवल व्यक्ति की उपासना मोह है। अव्यक्त को व्यक्त करनेवाली उपासना से ही प्रेम, रस, माधुर्य और आनन्द का प्रसाद प्राप्त होता है।

बुद्धिहीन केवल व्यक्ति-पूजा करता है। बुद्धिमान् व्यक्त मे अव्यक्त को देख कर अव्यय-उपासना करता है। अव्यक्त को देखने की दृष्टि सबको नहीं मिलती और वह सबके लिये प्रकट भी नहीं है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

ढके हुए है परम सत्य के मुख को ज्योतिर्मय ढक्कन।
उसे खोलदो हे पूषन् ! मैं धर्मशील करलूँ दर्शन ॥

सत्य का मुख स्वर्णमय पात्र से ढका हुआ है। हिरण्यमय पात्र ही योगमाया है। वह ज्योतिर्मयी यवनिका है। चकाचौंध कर देनेवाली चमचमाती हुई शक्ति है। उस पर दृष्टि नहीं ठहरती। उसे भेदे बिना अन्तर के सत्य का दर्शन नहीं होता।

योगमाया भगवान् की अचिन्त्य योगशक्ति है। वही भगवती इच्छा है। अपनी इच्छा से भगवान् स्वयं ढका रहता है और अपनी इच्छा से जीव स्वयं मोहित रहता है। जीव की इच्छा मायामयी है, भगवान् की इच्छा योगमाया है। आत्म-दर्शन, ईश-दर्शन और सर्व-दर्शन तभी होता है जब मनुष्य अपनी इच्छा को भगवान् की इच्छा में मिला देता है और स्वयं ज्योतिर्मय होकर उसकी ज्योति में मिलता है।

भागवत में योगमाया का मननीय वर्णन है—

श्रीकृष्ण के साथ ही योगमाया प्रकट हुई। उस योगमाया ने भगवान् को अव्यय रखने के लिये ढक लिया। उसी योगमाया से श्रीकृष्ण ने साधारण शिशु रूप धारण किया। उसी योगमाया ने द्वारपाल और अन्य जनों की समस्त इन्द्रिय वृत्तियों की चेतना हरली। भगवान् की इच्छा-शक्ति से अद्भुत कर्म करनेवाली योगमाया ने भगवान् के प्रकट रूप को अप्रकट रखा—अव्यक्त को व्यक्त करके भी किसी व्यक्ति में नहीं बँधने दिया। उसी योगमाया ने कंस को चेतावनी दी और उसी ने भगवती रूप होकर कंस को आश्चर्य में

डाल दिया।

इससे भी अधिक योगमाया की विलक्षण शक्ति रासलीला में देखी गयी—

> भगवानपि ता रात्री शरदोत्फुल्लमल्लिका।
> वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रित.॥
>
> (भागवत १०।२९।१)

सुमनों से प्रफुल्लित शरद् की खिली हुई उल्लसित रात्रि को भगवान ने देखा। अमना होते हुए भी अपने प्रियजनों का मन रखने के लिये अपनी महाशक्ति योगमाया का सहारा लिया और मन को धारण करके रासलीला की।

भगवान् भक्तजनों का मन लेकर उनका मन रखता है; अपनी योगमाया का आश्रय लेकर स्वयं कहीं लिप्त नहीं होता, इसीकारण उसकी शक्ति अव्यय है।

जिससे प्रकृति को आधीन करके परमेश्वर प्रकट होता है वह आत्ममाया भी योगमाया ही है। (गीता ४।७)

मूढ़जन जन्म-रहित अव्यय परमात्मा को नहीं जानता।

जो माया से मोहित रहता है वही मूढ़ है। मूढ बुद्धिहीन होकर भी अपने को बुद्धिमान् मानता है, वास्तव में कुछ नहीं जानता। परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का रहस्य मूढ कभी नहीं समझ पाता। शरीर धारण करके भी उसकी महाशक्ति का व्यय नहीं होता। वह अलिप्त और असंग रहता है। उसके इस महाभाव को मूढजन नहीं जानते और उसकी लीलाओं का रहस्य भी नहीं समझ पाते।

अपने अक्षय प्रकाश से वह सब कुछ देखता और जानता है—

२६.

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

वेद, अहम्, समतीतानि, वर्तमानानि, च, अर्जुन,
भविष्याणि, च, भूतानि, माम्, तु, वेद, न, कश्चन ।

अर्जुन=हे अर्जुन, समतीतानि=जो पहिले हो चुके हैं, च=और, वर्तमानानि=इस समय हैं, च=तथा, भविष्याणि=आगे होंगे, भूतानि=उन सब प्राणियों को, अहम्=मैं, वेद=जानता हूँ, तु=परन्तु, माम्=मुझे, कश्चन=कोई, न=नहीं, वेद=जानता ।

होंगे, हुए हैं, जीव जो मुझको सभी का ज्ञान है ।
इनको किसी को किन्तु कुछ मेरी नहीं पहिचान है ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पहिले हो चुके हैं और इस समय हैं तथा आगे होंगे उन सब प्राणियों को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता ।

व्याख्या—जिसकी शक्ति किसी भी अवस्था में नहीं छीजती, जिसका कुछ व्यय नहीं होता उस अव्यय ब्रह्म का ज्ञान भी अनन्त होता है । ब्रह्मदृष्टि भूत, वर्तमान और भविष्य को स्पष्ट देखती है । सम्यग्दर्शन केवल ब्रह्मदृष्टि से ही होता है । श्रीकृष्ण ने कहा—

जो हुए हैं, हैं और होंगे उन सबको मैं जानता हूँ ।

पशुज्ञान अपने को भी नहीं जानता । मानवज्ञान प्रत्यक्ष को जानने में समर्थ होता है । ब्रह्मज्ञान प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सबको

जानता है। भूत, वर्तमान और भविष्य को प्रत्यक्ष देखने के कारण ही ब्रह्म द्रष्टा है। सर्वत्र व्याप्त रहने के कारण उससे कुछ छुपा नहीं रहता।

मुझे कोई नहीं जानता

नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त और स्वयं प्रकाशक होने के कारण परमेश्वर सबको जानता है पर जो शुद्ध-बुद्ध और मुक्त नहीं है, माया से बँधा हुआ है और परमेश्वर की योग शक्तियों से सम्पन्न नहीं है वह कोई भी हो परमेश्वर को नहीं जान सकता।

जन-जन में ब्रह्म अपना दर्शन करता है। जीव अपने में भी अपने को नहीं देख पाता। माता-पिता, गुरुजन, बन्धु, स्त्री, पुत्र, मित्र सबमें भगवान् है—ऐसा दर्शन केवल ब्रह्मज्ञान से होता है। जैसे गुड़ के छोटे-से-छोटे टुकड़े में भी मिठास रहता है वैसे ही ब्रह्म के अंश—छोटे-से-छोटे जीव में भी भगवान् रहता है।

देहाभिमान में सीमित बुद्धि सर्वात्मा, परमात्मा को नहीं जान पाती। केवल आत्मबुद्धि से ही सर्वदृष्टि तथा सर्वज्ञान सुलभ होकर त्रिकाल दर्शन प्राप्त होता है।

परमेश्वर माया के आवरण से मूढ नहीं होता। जीव मूढ, विमूढ अर्थात् विशेष मूढ़ और कभी-कभी सर्वज्ञान विमूढ़ होकर सत्य को देखने और जानने में असमर्थ रहता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान में काल भेद होने के कारण जीव नित्य एकरस नहीं रह पाता, उसके लिये समय बदलता है। परमेश्वर एकरस रहता है—सनातन है। उसके लिये सदा वर्तमान है—वह सर्वज्ञ है।

भूत, भविष्य और वर्तमान का जगत् दृश्य है, परमात्मा उसका द्रष्टा है। दृश्य द्रष्टा का मर्म नहीं जानता क्योंकि वह पराधीन है; परमात्मा स्वाधीन है।

जीव के अल्पज्ञ और पराधीन होने का कारण बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

२७

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन, भारत,
सर्वभूतानि, संमोहम्, सर्गे, यान्ति, परन्तप।

परन्तप=हे शत्रुओं को ताप देनेवाले, भारत=भारत, सर्गे=संसार में, इच्छाद्वेषसमुत्थेन=इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए, द्वन्द्वमोहेन=द्वन्द्व-मोह से, सर्वभूतानि=सम्पूर्ण प्राणी, संमोहम्=अज्ञान में, यान्ति=फँस जाते है।

उत्पन्न इच्छा द्वेष से जो द्वन्द्व जग में व्याप्त हैं।
उनसे परन्तप! सर्व प्राणी मोह करते प्राप्त हैं॥

अर्थ—हे शत्रुओं को ताप देनेवाले भारत! संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए द्वन्द्व-मोह से सम्पूर्ण प्राणी अज्ञान में फँस जाते हैं।

व्याख्या—पराधीन प्राणी आधीनता की कारा में रहने के कारण दूर तक देखने नहीं पाता; उसमें देखने-सुनने-समझने और पाने की इच्छा रहती है परन्तु उसकी पूर्ति नहीं होती और वह सदा तुच्छ प्रयत्नों में लगा रहकर अपनी शक्ति खोता रहता है। शक्तिहीन को मोह दबाता है।

मोह इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होता है।

कामनायें चित्त को इन्द्रियों के आधीन करती हैं। पराधीन चित्त दुःखी त्रस्त और क्षुब्ध रहता है। क्रोधी और चिड़चिड़ा भी

हो जाता है। इस अवस्था में मन चलायमान रहता है, यही मोह है। मोह में बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और कर्त्तव्य कर्म का विवेकपूर्ण निर्णय नहीं हो पाता। (गीता २।६२-६३)

सन्त ज्ञानेश्वर ने इस मन्त्र की गम्भीर व्याख्या की है—

'जिस समय अहंकार और काया का प्रेम होता है, उस समय उनके योग से 'इच्छा' नाम की कन्या का जन्म होता है।' जब यह कन्या पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त होती है, तब वह द्वेष के साथ अपना शारीरिक-सम्बन्ध स्थापित करती है। फिर इच्छा और द्वेष की इस जोड़ी से द्वन्द्व-मोह (अर्थात् सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि से होनेवाला अज्ञान-भाव) उत्पन्न होता है। इस बालक का पालन-पोषण इसका मातामह या नाना अहंकार ही करता है। यह बालक मानसिक धर्म का शत्रु है। यह इतना अधिक उद्दण्ड होता है कि इन्द्रिय-निग्रह के नियन्त्रण में नहीं रहता। फिर वह आशा का दूध पीकर खूब हृष्ट-पुष्ट हो जाता है और असन्तोष के मद्य से मत्त होकर विषय-रूपी कोठरी में, विकृति के साथ रहने लगता है। फिर वह शुद्ध भावना के मार्ग में संकल्प-विकल्प के काँटों की बाढ़ लगाता है और अनुचित कर्मों के टेढ़े-तिरछे रास्ते तैयार करता है। द्वन्द्व-मोह के इस प्रकार के कृत्यों से सब जीव भ्रम में पड़ जाते हैं और तब वे संसार के जंगल में आकर भटकने लगते हैं और महादुःख के बोझ के नीचे दब जाते हैं।".

विषयों के साथ जीव का सम्पर्क होने से विषय को अहंकार देखता है। सम्पूर्ण दृश्य का द्रष्टा अहं है, जब वह चित्त रूप से विषयों की इच्छा करता है तब मोह उत्पन्न होता है और जब वह ब्रह्मरूप से देखता है तब आत्मभाव या प्रेम उत्पन्न होता है।

अहं जिसे देखता है वही विषय बन जाता है। अहं की सन्तुष्टि के लिये ही जीव जगत् में व्यवहार करता है, यही स्वार्थ है। इसी स्वार्थ पूर्ति के लिये व्यक्ति देश, समाज, जाति, कुटुम्ब और व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ता है और उन्हें अपना कहने लगता है—यही मोह है।

अहंकार से ही मन क्रियाशील है और अहंकार से ही बुद्धि प्रेरित तथा कर्म प्रवृत्त रहती है। अहंकार चित्त को अपना प्रधान यन्त्र बनाता है।

चित्त इच्छामात्र है—

इच्छमात्र विदुश्चित्तम् ।

(योग वा. नि. उ. ३६।२५)

चित्त के भी दो भाग हैं एक ज्ञात और दूसरा अज्ञात अथवा कभी चित्तवृत्तियाँ ज्ञात कर्म कराती हैं और कभी अज्ञात। अज्ञात चित्त जीव को नचाता है और तभी वह कहता है—

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः जानम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा मियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु उसमें प्रवृत्ति नहीं होती, अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु उससे निवृत्ति नहीं होती। कोई देवता हृदय में है जो जिसमें नियुक्त कर देता है वही मैं करता हूँ।

यही अज्ञात चित्त है, जिसके हाथों का जीव कठपुतला है।

ज्ञात और अज्ञात चित्त व्यक्ति में इच्छायें उत्पन्न करता है। इच्छायें पूर्ण न होने पर द्वेष हो जाता है। इच्छाओं से जीव द्वन्द्वों में घिरता है। वासनाओं और संस्कारों के बीच युद्ध होता है। अनुकूल और प्रतिकूल परिणाम मिलते हैं, अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष बढ़ता है। राग, द्वेष और द्वन्द्व प्राणी को मोहित कर लेते हैं।

द्वन्द्व-मोह से प्राणी सम्मोह में फँस जाते हैं

सुख दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, विजय-पराजय आदि को द्वन्द्व कहते हैं। द्वन्द्वों मे फँस जाना द्वन्द्व-मोह कहलाता है। मोह मन को भोगों मे लगाता है। अनात्म पदार्थों और कुभावों की ओर ले जाता है। नित्य नयी-नयी वासनाओं को उत्पन्न करता है। मोह मन को संसार मे अलग नहीं होने देता, प्रिय और अप्रिय की अच्छाई बुराई नहीं देखता। अपने को जो प्रिय हो उसके सदोष होने पर भी उसमे आसक्त रहना रागमय मोह है और जो अप्रिय हो उसके निर्दोष होने पर भी उससे द्वेष करना द्वेषमय मोह है। राग और द्वेष के कारण प्राणी अशान्त रहता है, परमात्मा को नहीं देख पाता, समय का ज्ञान उसे नहीं रहता उसकी महाशक्ति दब जाती है।

द्वन्द्वमय मोह सम्मोहन कर देता है। सम्मोहन अज्ञातरूप से प्राणी को वश मे रखता है—विवश करके काम कराता है। सम्मोहित जीव जानता-समझता नहीं कि वह क्या कर रहा है पर करता है। सम्मोहन क्रियाओं मे मन बिना जाने ही प्रवृत्त हो जाता है।

द्वन्द्व-मोह से सम्मोहित हुआ अज्ञानी प्राणी जो कुछ करता है उससे पापों-तापों की वृद्धि होती है और परमेश्वर का ज्ञान नहीं रहता।

द्वन्द्व-मोह से छूटने के लिये भक्ति की साधना अमृत-शक्ति देती है। प्रयत्न रूप भजन से ही मोह नष्ट होता है।

द्वन्द्व-मोह से छूटे हुए व्यक्ति परमेश्वर को जान लेते हैं और व्रतशील होकर उसका सिद्ध भजन करते हैं।

२८

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

येषाम्, तु, अन्तगतम्, पापम्, जनानाम्, पुण्यकर्मणाम्, ते, द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः, भजन्ते, माम्, दृढव्रताः ।

तु=परन्तु, येषाम्=जिन, पुण्यकर्मणाम्=पुण्य कर्म करनेवाले, जनानाम्=पुरुषों का, पापम्=पाप, अन्तगतम्=नष्ट होगया है, ते=वे, द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः=द्वन्द्वरूपमोह से मुक्त हुए, दृढ़व्रताः=दृढ़व्रती पुरुष, माम्=मुझे, भजन्ते=भजते हैं ।

पर पुण्यवान् मनुष्य जिनके छुट गये सब पाप हैं ।
दृढ़ द्वन्द्व-मोह-विहीन हो भजते मुझे फिर आप हैं ॥

अर्थ — परन्तु जिन पुण्य-कर्म करनेवाले पुरुषों का पाप नष्ट होगया है, वे द्वन्द्व-रूप मोह से मुक्त हुए दृढ़व्रती पुरुष मुझे भजते हैं ।

व्याख्या—सम्मोहन की पराधीनता से मुक्त होने के लिये चित्त-वृत्तियों को राग-द्वेष से हटाना चाहिये या मोह-मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये । योगवाशिष्ठ के अनुसार चित्त इच्छामात्र है और उसकी शान्ति का नाम मुक्ति है—

इच्छामात्र विदुश्चित्त तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥
(योगवा. निर्वाण सर्ग ३६।२५)

सारे शास्त्रों का, तप, नियम और यम का ध्येय चित्त का निरोध करना है । चित्त-शान्ति या इच्छा-शान्ति को ही मुक्ति कहते हैं । चित्त

इच्छामात्र है, इच्छामात्र दुःखदायक है। इच्छा रागमयी होकर जितनी बढ़ती है उतनी ही सम्मोहन की विषैली तरगें उठती हैं और दुःखों के संसार का विस्तार करती है।

इच्छाओं की शान्ति के लिये पुण्य कर्मों का सहारा लेना उचित है।

पुण्य कर्म से पाप का अन्त हो जाता है।

द्वन्द्व मोह से छूटने के प्रयत्नों को पुण्य कर्म कहते हैं। जो निर्मलता बढ़ाते हैं, ज्योति देते हैं, राग से हटाकर प्राणिमात्र और परमेश्वर से अनुराग कराते हैं उन्हें पुण्य-कर्म कहते हैं।

सत्य, सेवा, सौजन्य, सद्भाव, सात्विकता, स्वास्थ्य और सामर्थ्य की जिन कर्मों से वृद्धि होती है उन्हें पुण्य कर्म कहते हैं।

चित्त का निरोध या चित्त की शुद्धि केवल पुण्य-कर्मों से होती है। दुर्वासना, दुर्भावना, द्वेष या पापों का अन्त करना पुण्य-कर्मों का काम है।

जो इच्छा और द्वेष बढ़ाते हैं वे पाप कर्म कहलाते हैं। द्वन्द्वमय जगत में अधिकाधिक फँसाकर दुःख और चिन्ता देनेवाले, भुलाने और भटकानेवाले कर्मों को भी पाप-कर्म कहते हैं।

पुण्य कर्मों से पाप-कर्मों का अन्त हो जाता है और तभी प्राणी अनन्त सुख के पथ पर पैर बढ़ा पाता है। द्वन्द्व-मोह से मुक्ति केवल पुण्य-कर्मों से मिलती है।

दृढ़ निश्चय किये बिना पुण्य-कर्म नहीं होते। व्रत पुण्य-कर्मों का दृढ़ आधार है। राग द्वेष को व्रत लेकर छोड़नेवालों के लिये पुण्य-कर्म सुगम हो जाते हैं।

एक महात्मा किसी उदार व्यक्ति के यहाँ गये, उन्हें मालूम

हुआ कि वह व्यक्ति सो रहा है। महात्मा को उससे घृणा हुई द्वेष बढ़ा और वे वापिस लौट आये। वन में एक पवित्र स्थान पर पहुँच कर उन्हें अपनी भूल का ध्यान आया कि किसी बुरा करनेवाले से घृणा करना या दूसरों के कर्मों से राग-द्वेष में पड़ना उचित नहीं है, घृणा अपनी बुराई से करनी चाहिये। उन्होंने तुरन्त व्रत लिया कि सोने से मुझे घृणा हुई है तो आज मुझे बिल्कुल नहीं सोना चाहिये और जागते रहकर अपने व्रत की पुष्टि के लिये भजन करना चाहिये।

दृढ़व्रत लेकर भजन करनेवाला पापों से मुक्त हो जाता है।

पापों से मुक्त होनेवाला मुक्ति के द्वार पर पहुँच जाता है। संग दोषों से मुक्त रहनेवाला यज्ञ-कर्म या परमेश्वर के लिये कर्म करता है (३।६)। संग दोषों से मुक्त रहनेवाला सात्विककर्ता कहा जाता है (१८।२६)। संग दोषों से छूटनेवाला ही ज्ञान में स्थित होता है और सचेत रहकर यज्ञ-कर्म करता हुआ मुक्त हो जाता है (४।२३)।

जिसे संसार में नित्यमुक्त रहना हो उसे मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर संयम करना चाहिये, मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिये, मननशील मुनि होकर इच्छा, भय और क्रोध का त्याग करना चाहिये (५।२८)।

दोष-दृष्टि त्याग कर श्रद्धायुक्त होकर जो शुभ सुनता है वह मुक्त होकर पुण्य-कर्म करनेवाले श्रेष्ठजनों का सत्संग पाता है या उत्तम लोकों में निवास करता है (१८।७१)।

पुण्य प्रयत्नों द्वारा संग दोषों से छूटनेवाला मुक्त कहलाता है। जो सदा मुक्त रहता है उसे विमुक्त कहते हैं। कभी-कभी दोषों से छूट जाने पर भी दोष पुनः घेर लेते हैं और मुक्त भी बन्धन में आ जाता है। जो विमुक्त है वह दोषों से नहीं घिरता और सदा मुक्त रहता है। विमुक्त परमेश्वर को पाता है (६।२८)।

पुरुषोत्तमयोग में श्रीकृष्ण ने एक निश्चित निर्णय दिया है—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

जो अहं और मोह का अन्त कर देते हैं, संगदोषों पर विजय पा लेते हैं, अध्यात्म में निरन्तर स्थित रहते हैं, कामनाओं से अच्छी प्रकार निवृत्त हो जाते हैं, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से विमुक्त रहते हैं वे कभी मूढ़ न होनेवाले उस अव्यय अमृत परमपद को पाते हैं।

विमुक्त वे हैं जो सदा मुक्त रहते हैं, अमृत आनन्द लेते हैं।

अमृत आनन्द से आगे परमानन्द है। निजानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों का योग ब्रह्मरूप या प्रेमरूप होकर जब प्रियतम में मिलता है तब परमानन्द प्राप्त होता है।

पुण्यवान् पापों से मुक्त होते हैं, निष्पाप जन राग-द्वेष द्वन्द्वों से निर्मुक्त या अतिशय मुक्त हो जाते हैं। निर्मुक्त जन दृढ़व्रत में स्थित होकर कभी न डिगकर निजानन्द में निमग्न हुए परमात्मा का भजन करते हैं। सर्वोत्तम मुक्ति परमात्मा को भजते-भजते या परमानन्द का स्मरण करते करते परमानन्द में मिल जाने से मिलती है।

परमात्मा का भजन

भजन का प्रारम्भ पुण्य कर्मों के प्रयत्न से होता है। पापों से बचे रहना, द्वन्द्व-मोह से अतिशय मुक्त रहने के लिये दृढ़व्रत लेना और सब प्रकार से परमेश्वर की ओर जाना, परमेश्वर के प्रति सर्व समर्पण करना ही वास्तविक भजन है।

परमेश्वर की सम्मुखता साधे रहना, परमार्थ के लिये जीना, परमेश्वर के यथार्थ बोध से उसके लिये कर्म करना और शुभ में नित्य नियुक्त रहना सच्चा भजन है।

शुभ और सधे हुए प्रयत्नों से भजन की साधना होती है। भजन के अमृत फल से जीवन पुण्यमय, द्वन्द्व-मोह विहीन, दृढ़व्रती और निर्मुक्त बन जाता है। अतः अमृतपद पाने के लिये नित्य तत्परता से भजन करना चाहिये।

२९

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

जरामरणमोक्षाय, माम्, आश्रित्य, यतन्ति, ये,
ते, ब्रह्म, तत्, विदुः, कृत्स्नम्, अध्यात्मम्, कर्म, च, अखिलम्।

जरामरणमोक्षाय=बुढ़ापे और मृत्यु से छूटने के लिये, ये=जो, माम्=मेरे, आश्रित्य=आश्रित होकर, यतन्ति=यत्न करते हैं, ते=वे, तत्=उस, ब्रह्म=ब्रह्म को, कृत्स्नम्=सम्पूर्ण, अध्यात्मम्=अध्यात्म को, च=और, अखिलम्=सारे, कर्म=कर्मों को, विदुः=जान लेते हैं।

करते ममाश्रित जो जरा-मृति-मोक्ष के हित साधना।
वे जानते हैं ब्रह्म, सब अध्यात्म, कर्म महामना ॥

अर्थ—बुढ़ापे और मृत्यु से छूटने के लिये जो मेरे आश्रित होकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को सम्पूर्ण अध्यात्म को और सारे कर्मों को जान लेते हैं।

व्याख्या—जन्म से मृत्यु तक जीव राग-द्वेष और द्वन्द्वों के बन्धनों में बँधा रहता है। उसे अपने स्वरूप का और कर्म का ज्ञान नहीं हो पाता। ब्रह्मज्ञान, अध्यात्मज्ञान और कर्मज्ञान के लिये मुक्त प्रयत्न करने आवश्यक हैं।

कर्म बन्धनमात्र है। आग जैसे धुएँ से घिरी रहती है वैसे ही कर्म दोषों से घिरा रहता है परन्तु जब कर्म श्रीकृष्ण योग से कर्मयोग

बन जाता है तब वही मुक्ति का साधन हो जाता है।

इसी प्रकार ज्ञान अहं का बोध कराता है। प्रायः अहं को बढ़ाता है और व्यवहार में नहीं आता तो केवल भार रह जाता है। ज्ञान को ज्ञानयोग बना लेने से ही यह मुक्ति का साधन बनता है।

भक्ति की भी यही बात है—यदि उसमें दम्भ प्रवेश कर जाता है, अकर्मण्यता आ जाती है, स्वार्थवासनाओं की पूर्ति के लिये ही उसका साधन होता है तो उससे मुक्ति, अमृत-आनन्द या परमात्मा नहीं मिलता। भक्ति को भक्तियोग बना देने से ही कृष्णयोग, सर्व-समर्पणयोग या मुक्तियोग मिलता है।

कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग किसी एक का आचरण करने से तीनों की त्रिवेणी में स्नान करने का पुण्य फल मिल जाता है।

पुण्यवान् परमेश्वर का आश्रय लेता है।

परमेश्वर का आश्रय लेनेवाला वह है जो किसी दूसरे की ओर नहीं देखता स्वयं अपना उद्धार करनेवाला स्वावलम्बी साधक ही परमेश्वर का आश्रय लेनेवाला कहा जाता है. (६१५)।

जरामरण से मुक्ति के प्रयत्न

बुढ़ापा सदा क्षयशील है। जो घटता ही घटता है वही बूढ़ा है। बुढ़ापा जीवन में ही मृत्यु का साथी बना देता है। जिसे जरा या बुढ़ापे के दोष नहीं लगते अथवा जो सदा संचयशील, कर्मशील और भजनशील बना रहता है—द्वन्द्व-मोह से मुक्त रहता है, दृढ़व्रती रहकर पुण्यों में लगा रहता है वह जरा और मरण से छूटने के प्रयत्न करता है।

माया के आधीन होनेवाला बुढ़ापे और मृत्यु की ओर जाता है। माया से छूटनेवाला मुक्ति के मार्ग पर चलता है।

ब्रह्मज्ञान

मुक्ति के मार्ग पर चलनेवाला स्वयं ही ब्रह्म को जान लेता है। गीता ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र है। गीता का योग प्रत्येक कर्म को ब्रह्म-कर्म बनाता है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराता है। ब्रह्मज्ञान किसी पुस्तक के ज्ञान से नहीं होता ब्रह्म को जानने के लिये पवित्रता, शुभ अथवा मुक्ति में नियुक्त होना पड़ता है।

अध्यात्मज्ञान

ब्रह्म कहीं दूर नहीं है, अपने से पृथक् नहीं है। अपने में ब्रह्म को देखना और अपने स्वरूप का ठीक-ठीक दर्शन करना अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञान से आत्मा को जानकर साधक आत्मवान् बन जाता है। आत्मा का थोड़ा-सा ज्ञान भी मनुष्य को महान् बनाता है, महात्मा बनाता है। जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म का ज्ञान मिल जाता है वह तो परमात्मा रूप ही हो जाता है। परमात्मा रूप होकर रहना मुक्त-जीवन है।

समस्त कर्मों का ज्ञान

कर्म की कुशलता को योग कहते हैं। कुशलता वह है जिससे कर्म सरलता से होता है, सफल होता है, निष्पाप रहता है और दैवी-योग से किया जाता है। कर्म करने की कला या कुशलता जिसे मिल जाती है उसके कर्मों को दोष नहीं घेर पाता। निर्दोष कर्मों का ज्ञान केवल परमेश्वर का आश्रय लेकर जरामरण के बन्धनों से छूटने का प्रयत्न करनेवाले को ही मिलता है।

परमेश्वर का आश्रय

परमेश्वर का आश्रय न कभी टूटता है और न कभी डिगता है। उसमें आनन्द है, उत्साह है। रस, माधुर्य, प्रेम और प्रसाद परमेश्वर का आश्रय लेनेवाले को मिलते हैं। प्रेम और प्रसाद से ही भजन उपयोगी है। परमेश्वर का आश्रय लेनेवाले उसके साथ रहकर उसे अपने अन्तःकरण में बसाकर कर्मों को कुशलता से करते हुए कलापूर्ण जीवन जीते हैं।

३०

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

साधिभूताधिदैवम् , माम् , साधियज्ञम् , च, ये, विदुः,
प्रयाणकाले, अपि, च, माम् , ते, विदुः, युक्तचेतसः ।

ये=जो, साधिभूताधिदैवम्=अधिभूत और अधिदेव के सहित, च=तथा, साधियज्ञम्=अधियज्ञ के सहित, माम्=मुझे, विदु=जानते हैं, ते=वे, युक्तचेतस=युक्त चित्तवाले, प्रयाणकाले=अन्तकाल में, अपि=भी, माम्=मुझको, च=ही, विदु=जानते है ।

अधि-भूत, दैव व यज्ञ-युत, जो विज्ञ मुझको जानते ।
वे युक्त-चित मरते समय में भी मुझे पहिचानते ॥

अर्थ—जो अधिभूत और अधिदेव के सहित तथा अधियज्ञ के सहित मुझे जानते है वे युक्त चित्तवाले अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं ।

व्याख्या—प्रयत्न चाहे जरामरण से छूटने के लिये हो, साक्षात्कार के लिये हो या परमेश्वर को पाने के लिये हो, प्रयत्न से परमेश्वर की कृपा और कृपा से सर्वत्र सफलता मिलती है ।

जन्म से मृत्यु तक जो परमेश्वर को नहीं छोड़ता और उसकी चेतना से युक्त रहता है उसके सामने परमेश्वर अनेक रूपों मे लीला करता है और अन्तकाल तक उनका योगक्षेम करता है । जिसका जीवन भगवान् के चरणों मे सुमनों की भांति अर्पण हो जाता है, जिसे

भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, जिसके भगवान् प्रेरक, पथ-प्रदर्शक, प्रकाशक और सहयोगी बन जाते हैं उसके लिये बुढ़ापा, मृत्यु और समय कभी दुःखदायी नहीं होते। उसे मृत्यु और काल पर अनुशासन करने की शक्ति मिल जाती है।

जीवन के साथ मृत्यु लगी हुई है। जन्म, वृद्धि, यौवन परिपक्वता और अन्त क्रमशः जीव पर अधिकार करते हैं। मृत्यु के समय ज्ञान लुप्त हो जाता है, वेदनायें डंक मारती हैं, अङ्ग फटने लगते हैं, सदा के लिये बुझ जाने को प्राणों की ज्वाला भड़कती है। ऐसे समय में भी परमेश्वर का आश्रय लेकर मुक्त प्रयत्न करनेवाले सचेतन रहते हैं, उनका तेज, रस, मधुरभाव, ऐश्वर्य और आनन्द अक्षय बना रहता है। वे भगवान् के अभिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ से युक्त रूपों को जानते हैं, देखते हैं और उनमें निमग्न रहते हैं।

मृत्यु जैसी विषम परिस्थितियों में भी वे विमूढ़ नहीं होते जो भगवान् का आश्रय लेकर कर्म करते हैं। भगवान् के सब रूपों को जानकर भक्तजन कभी आत्म-विस्मृत नहीं होता—यही मुक्ति है।

परमात्मा की कृपा से जीव की मुक्ति में अचल नियुक्ति हो जाती है। उसमें मिले रहने के लिये ही गीता का यह ज्ञान-विज्ञानयोग है। इस योग से ज्ञान-विज्ञान और सबके निधान परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य गीताज्ञान का सातवाँ अध्याय
'ज्ञान विज्ञान-योग' सम्पूर्ण।

卐

श्रीमद्भगवद्गीता

मंगल-मार्ग-योग

८

卐

परमेश्वर के अनेकों नाम और रूप हैं। परमेश्वर की पहिचान जीवन की सर्वश्रेष्ठ कला है। जो सर्वत्र है, सर्वमय है और सर्व-सुलभ है; उसे न जानना जीवन की सबसे बड़ी असफलता है। अपने इसी अज्ञान के कारण जीव किसी न किसी प्रकार दुःखी और अशान्त रहता है।

तप द्वारा निष्पाप होकर जो विशुद्ध-हृदय से दुःख, रोग, बुढ़ापे और मृत्यु से छूटने का प्रयत्न करते हैं, वे सदा सावधान और कर्म-तत्पर रहनेवाले परमेश्वर को पहिचान लेते हैं।

परमेश्वर का ज्ञान सबको एक समान नहीं होता। कर्मों में जितनी अधिक सावधानी और पवित्रता होती है, उतना ही उत्तम भक्ति-भाव बनता है और भाव के अनुरूप ज्ञान मिलता है।

जगत् में जानने के लिये बहुत कुछ है, परन्तु जो ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप परमेश्वर को जान लेते हैं,

उन्हें कुछ जानना नहीं रह जाता और वे सम्पूर्ण जीवन को सुखमय बनाकर मृत्यु को भी मुक्ति रूप बना लेते हैं।

मनुष्य प्रायः अपनी ही उलझनों में फँसा रहता है। उसे बड़े पुण्य से कुछ जानने की इच्छा होती है, परन्तु जानने की इच्छा होने पर भी यदि अहम्, अवहेलना और असत्य की अधिकता से ज्ञान पचता नहीं तो कुछ हाथ नहीं लगता। अनेक-बुद्धि अथवा अनेक-वाद से भी अज्ञान का अन्त नहीं होता। एकाग्रता, जिज्ञासा और तत्परता से परमेश्वर का बोध होता है।

जीवन एक परीक्षा है, मृत्यु उसका परीक्षा-फल है। जीवन में सफलता मिली अथवा असफलता, कौनसी श्रेणी में उत्तीर्ण हुए, स्थान उत्तम मिला अथवा मध्यम ? इन प्रश्नों का उत्तर मृत्यु देती है। मृत्यु सम्पूर्ण जीवन का खाता खोलकर दिखा देती है।

मृत्यु को मुक्तिदायक बनाने की साधना आठवें अध्याय में है। मंगल-मार्ग से चलनेवाले मंगलमय भगवान् से जा मिलते हैं और दूषित-मार्ग से चलनेवाले दुःखों तथा दोषों से भरे नरक में पड़ते हैं। सावधानी और सतर्कता से कर्म करते हुए महान् जीवन बनाना आठवें अध्याय का मार्ग है।

अर्जुन ने अत्यन्त विनीत भाव और पवित्र जिज्ञासा से परमेश्वर के उन भावों को जानने की इच्छा की, जिनका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण ने सातवें अध्याय के अन्त में किया है।

अर्जुन के अध्यात्म-सम्बन्धी प्रश्नों से आठवें अध्याय का प्रारम्भ है।

१

अर्जुन ने कहा —

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥

किम्, तत्, ब्रह्म, किम्, अध्यात्मम्, किम्, कर्म, पुरुषोत्तम,
अधिभूतम्, च, किम्, प्रोक्तम्, अधिदैवम्, किम्, उच्यते ।

पुरुषोत्तम=हे पुरुषोत्तम, तत्=वह, ब्रह्म=ब्रह्म, किम्=क्या है,
अध्यात्मम्=अध्यात्म, किम्=क्या है, कर्म=कर्म, किम्=क्या है,
अधिभूतम्=अधिभूत, किम्=क्या, प्रोक्तम्=कहा गया है, (और)
अधिदैवम्=अधिदैव, किम्=क्या, उच्यते=कहा जाता है ।

हे कृष्ण ! क्या वह ब्रह्म ? क्या अध्यात्म है ? क्या कर्म है ?
अधिभूत कहते हैं किसे ? अधिदैव का क्या मर्म है ?

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत क्या कहा गया है और अधिदैव क्या कहा जाता है ?

व्याख्या—जो पुरुषों मे श्रेष्ठ है, उसका ज्ञान जगत् का समाधान है ।

हृदय के तल से उमड़ती हुई जिज्ञासा मे सत्य का प्रवाह होता है और वह ज्ञान के अनन्त-सिन्धु तक पहुँचती है ।

गुरु के ज्ञान की थाह लेनेवाले और केवल वाणी-विलास अथवा प्रज्ञावाद के लिये प्रश्न करनेवाले की जिज्ञासा, ज्ञान-सिन्धु तक पहुँचने से पहिले ही छोटे-छोटे संकुचित गड्ढों में समा जाती है और प्रगति करने की सामर्थ्य खो बैठती है।

अर्जुन ने अनन्त ज्ञान के कोष, सर्वज्ञ, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से विशुद्ध ज्ञान के लिये प्रश्न किया था। श्रीकृष्ण ने उसका भाव देखकर सरल संक्षिप्त निश्चित और स्पष्ट उत्तर दिया।

अर्जुन का पहला प्रश्न है—'वह ब्रह्म क्या है?'

श्रीकृष्ण ने ब्रह्म को जाननेवाले की महिमा का वर्णन सातवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में किया है, उसीसे अर्जुन में ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा जागृत हुई।

ब्रह्म क्या है? यह एक महत्त्वपूर्ण और मानवमात्र के लिये उपयोगी प्रश्न है। ब्रह्म के अनेकों नाम और रूप हैं—'शब्द-ब्रह्म' 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' 'अहं-ब्रह्म' 'सर्व-ब्रह्म' 'चैतन्य-ब्रह्म' 'सत्ता-ब्रह्म' 'साक्ष-ब्रह्म' 'सगुण-ब्रह्म' 'निर्गुण-ब्रह्म' 'वाक्य-ब्रह्म' 'अनिर्वाच्य-ब्रह्म' 'अनुभव-ब्रह्म' 'आनन्द-ब्रह्म' 'तदाकार-ब्रह्म' आदि ऋषियों ने अनेकों रूपों में ब्रह्म की खोज और अनुभूति की है। अर्जुन ने ब्रह्म का निश्चित और स्पष्ट भाव जानने की जिज्ञासा की।

अर्जुन का दूसरा प्रश्न अध्यात्म की जानकारी के लिये है। अध्यात्मविद्या में उपनिषदों और वेदों का अनन्त ज्ञान है। आत्मा केवल तर्क से नहीं जाना जाता, भौतिक ज्ञान-विज्ञान से भी आत्मा-सम्बन्धी ज्ञान नहीं होता। अध्यात्म-शास्त्र का ज्ञान केवल विशुद्ध अन्तःकरण और निश्चयात्मिका बुद्धि से होता है। मनुष्य का अन्तःकरण प्रायः विशुद्ध और निष्पक्ष नहीं होता, अतः केवल मन से माना हुआ

अथवा समझा हुआ ज्ञान, अध्यात्म-ज्ञान नहीं हो सकता। विशुद्ध भाव निष्पक्ष बुद्धि, पवित्रता और मनोबल के अनुसार अध्यात्म-ज्ञान का बोध होता है। इसलिये पवित्र-आत्मा, तपस्वी तथा मनस्वी ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव माननीय एवं मननीय होते हैं। मन को अन्तर्मुखी करनेवाले मनीषी आत्मा के सम्बन्ध मे विशुद्ध और शान्त बुद्धि से विचार करते हैं, उनके पवित्र हृदय से अध्यात्म की सहस्रों धारायें उमड पडती है।

अर्जुन का तीसरा प्रश्न कर्म के विषय मे है—'किं कर्म'—कर्म क्या है? 'नित्य-कर्म' 'नैमित्तिक-कर्म' 'काम्य-कर्म' 'यज्ञ-कर्म' लौकिक कर्म' 'अकर्म' और 'विकर्म' आदि अनेक प्रकार के कर्म हैं। कर्म की गति गूढ है। कर्म का ज्ञान हो जाने पर जीव, जगत् और ब्रह्म की समस्या सहज मे सुलझ जाती है।

अर्जुन ने चौथा प्रश्न किया कि अधिभूत किसे कहते है?

आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथिवी पञ्च महाभूत अथवा सम्पूर्ण दृश्य जगत् में जो कुछ देखा, छुआ, सुना और जाना जाता है, वह अधिभूत है अथवा कुछ और?

पाँचवें प्रश्न मे अर्जुन ने अधिदेव को जानने की इच्छा प्रकट की।

शरीर मे स्थित इन्द्रियरूप देवताओं को अधिदेव कहते हैं, अथवा किसी देवता विशेष को? अर्जुन स्पष्ट जानना चाहता था कि किस दृष्ट अदृष्ट हिरण्यगर्भ महाशक्ति को अधिदेव कहा जाता है?

इन पॉच जीवन सम्बन्धी महाप्रश्नों के साथ ही अर्जुन को यह भी जानने की इच्छा हुई कि—

२

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

अधियज्ञः, कथम्, कः, अत्र, देहे, अस्मिन्, मधुसूदन,
प्रयाणकाले, च, कथम्, ज्ञेयः, असि, नियतात्मभिः ।

मधुसूदन=हे मधुसूदन, अत्र=यहाँ, अस्मिन्=इस, देहे=शरीर में,
अधियज्ञः=अधियज्ञ, कः=कौन है, च=और, कथम्=कैसे है,
नियतात्मभिः=युक्त चित्तवाले पुरुषों द्वारा, प्रयाणकाले=अन्त समय में,
कथम्=किस प्रकार, (आप) ज्ञेयः=जाने, असि=जाते हैं ।

इस देह में अधियज्ञ कैसे और किसको मानते ?
मरते समय कैसे जितेन्द्रिय जन तुम्हें पहिचानते ?

अर्थ—हे मधुसूदन ! यहाँ इस शरीर में अधियज्ञ कौन है और कैसे है ? युक्त चित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जाने जाते हैं ?

व्याख्या—अर्जुन के प्रश्न भगवद्दर्शन के उसी प्रसंग से सम्बन्ध रखते हैं, जिसका प्रारम्भ सातवें अध्याय में किया गया था ।

यज्ञ-सम्बन्धी चर्चा गीता के तीसरे और चौथे अध्याय में की गई है । केवल बाहरी यज्ञों द्वारा यज्ञ का ध्येय पूरा नहीं होता, अतः अर्जुन को यह जानने की इच्छा हुई कि इस शरीर में अधियज्ञ कौन है और किस प्रकार है ?

अनन्त रूप परमेश्वर के हाथों से निर्मित सृष्टि का रहस्य भी अनन्त है। परमेश्वर के अनेक नाम और रूप हैं—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—

उस एक का विद्वानों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

इस देह में वही ब्रह्म यज्ञरूप होकर प्रतिष्ठित है। दैहिक यज्ञ में कर्मों की आहुति देनेवाले ब्रह्म को प्रसन्न करके प्रसाद प्राप्त कर लेते हैं।

अर्जुन का यह अन्तिम प्रश्न व्यवहार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि जो अपने अन्तःकरण का नियमन कर लेते हैं अथवा चित्त को संयत रखते हैं, उन्हें मरने के समय भगवान् का ज्ञान कैसे रहता है? प्रायः मृत्यु के समय अथवा मृत्यु से पहिले ही मनुष्य सुध-बुध खो देता है, बुद्धि और इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं और सर्वत्र अन्धकार-सा छा जाता है। ऐसे समय में भी जो प्रकाशमय रहता है, जिसकी बुद्धि साथ नहीं छोड़ती, इन्द्रियों का बल नहीं छीजता और चेतना जागृत रहती है, उनका जीवन धन्य और सफल है। किस कर्म और शक्ति से मनुष्य अन्त समय तक इस अवस्था में रहता है अथवा अन्त समय इस अवस्था में आ जाता है? यह जीवन के लिये एक रचनात्मक और जानने योग्य प्रश्न है।

अन्त भला सो भला। जीवन भर ब्रह्म और अध्यात्म की चर्चा करते रहें और अन्त में कुछ काम न आये तो कोई लाभ नहीं, करना वह है जिससे अन्त सुधर जाय।

श्रीकृष्ण ने प्रसन्नता से अर्जुन के नित्य व्यवहार में आनेवाले प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा—

३

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

अक्षरम्, ब्रह्म, परमम्, स्वभावः, अध्यात्मम्, उच्यते,
भूतभावोद्भवकरः, विसर्गः, कर्मसंज्ञितः ।

परमम्=परम, अक्षरम्=अक्षर, ब्रह्म=ब्रह्म है, स्वभावः=स्वभाव, अध्यात्मम्=अध्यात्म, उच्यते=कहा जाता है, भूतभावोद्भवकरः= भूतों के भाव को उत्पन्न करनेवाला, विसर्गः=सृष्टि-व्यापार, कर्मसंज्ञितः=कर्म कहलाता है ।

अक्षर परम वह ब्रह्म है, अध्यात्म जीव स्वभाव ही ।
जो भूतभावोद्भव करे व्यापार कर्म कहा वही ॥

अर्थ—परम अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है भूतों के भाव को उत्पन्न करनेवाला सृष्टि-व्यापार कर्म कहलाता है ।

व्याख्या—अपने-अपने मनन और अनुभव के अनुसार महापुरुषों ने ब्रह्म की व्याख्या की है । गीता ने अत्यन्त व्यापक और उदारभाव से ब्रह्म का दर्शन कराया है ।

परम अक्षर को 'ब्रह्म' कहते हैं । अक्षर का अर्थ है—कभी नष्ट न होनेवाला—

'न क्षरति न नश्यतीति अक्षरम्'

होता न कभी किञ्चित् भी जिसका क्षय है।
वह नित्य निरञ्जन अविनाशी अक्षय है॥

अक्षर की एक और भी परिभाषा से विज्ञजन परिचित हैं—

'अश्नुते सर्वमिति अक्षरम्'

उत्पत्ति न जिसकी हुई कभी,
जो कभी नहीं है नाशवान्।
सर्वत्र व्याप्त सबमें समान,
कहते उसको 'अक्षर' महान्॥

अक्षर के साथ गीता ने परम शब्द लगाया है, केवल अक्षर से ब्रह्म का पूर्णभाव प्रकट नहीं होता। सांख्य में अव्यक्त प्रकृति को 'अक्षर' कहा गया है। वेदान्त के अनुसार 'ब्रह्म' प्रकृति से बहुत परे है। गीता में परा और अपरा प्रकृति से श्रेष्ठ पुरुषोत्तम का वर्णन है। क्षर और अक्षर से परे ब्रह्म का निर्देश करने के लिये ब्रह्म को 'परम अक्षर' कहा गया है।

एकाक्षर ब्रह्म 'ओम्' और शब्द ब्रह्म आदि से परे अर्थात् सर्वोपरि ब्रह्म का निरूपण करने के लिये भी परम अक्षर को 'ब्रह्म' कहा है।

उपनिषदों में सर्वनियन्ता, परमानन्दस्वरूप, सर्वप्रकाश, सर्वाधार, द्रष्टा, स्वप्रकाश और परम अक्षर कहकर ब्रह्म का वर्णन है। सूर्य चन्द्र आदि उसी की शक्ति से अनुशासन में रहते हैं। उससे भिन्न कोई दूसरा नहीं है—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसीमें ओतप्रोत है।

ब्रह्म कहीं न दिखता हुआ भी सब कुछ देखता है, सुनता है,

४

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥

अधिभूतम्, क्षरः, भावः, पुरुषः, च, अधिदैवतम्,
अधियज्ञः, अहम्, एव, अत्र, देहे, देहभृताम्, वर ।

देहभृताम् वर=देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन, क्षरः=नाशवान्, भावः=भाव, अधिभूतम्=अधिभूत हैं, च=और, पुरुषः=पुरुष, अधिदैवतम्=अधिदैव है, अत्र=इस, देहे=शरीर में, अहम्=मैं, एव=ही, अधियज्ञः=अधियज्ञ हूँ ।

अधिभूत नश्वर भाव है, चेतन पुरुष अधिदैव ही ।
अधियज्ञ मैं सब प्राणियों के देह बीच सदैव ही ॥

अर्थ—**हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! नाशवान् भाव अधिभूत हैं और पुरुष अधिदैव है, इस शरीर में मैं ही अधियज्ञ हूँ ।**

व्याख्या—जगत् का सम्पूर्ण भाव एक ही ब्रह्म से है, उसका स्वभाव अध्यात्म है । आध्यात्मिक कर्म का फल सुख है और आधिभौतिक कर्मों का फल जड़वाद है । जगत में जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले भाव हैं, उन सबको 'क्षर' कहते हैं । उत्पन्न होना, बढ़ना, क्षीण होना और नष्ट हो जाना क्षर का स्वभाव है यही 'अधिभूत' कहा जाता है । चराचर जगत के वस्तु समूह को 'अधिभूत' कहते हैं ।

नश्वर पञ्चमहाभूतों से जिनका रूप बनता है, भूतों के संयोग से जो दिखायी पड़ता है, वह 'अधिभूत' है ।

अधिभूत से पृथक् अधिदैव है। पुरुष को 'अधिदैव' कहते हैं। नाम रूपवाली देह—अधिभूत है और इस देह मे रहनेवाला आत्मा—अधिदैव है। अधिदैव, प्रत्येक पदार्थ को धारण करता है, उसे चेतना प्रदान करता है और नियम मे रखता है। जड़-चेतन चराचर जगत् के प्राण पुरुष को अधिदैव कहते हैं।

लोकमान्य तिलक के अनुसार 'पुरुष' शब्द से सूर्य का पुरुष, जल का देवता या वरुण-पुरुष इत्यादि सचेतन सूक्ष्म देहधारी देवता विवक्षित है और हिरण्यगर्भ का भी उसमे समावेश होता है।

श्री शङ्कराचार्य ने 'पुरुष' उसे कहा है जिससे यह सब जगत् परिपूर्ण है अथवा जो शरीर रूपी पुर मे रहनेवाला है वह पुरुष अथवा सब प्राणियों के इन्द्रियादि करणों का अनुग्राहक सूर्यलोक मे रहनेवाला हिरण्यगर्भ अधिदैवत है।

सन्त ज्ञानेश्वर ने 'अधिदैव' को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'अधिदैवत से पुरुष का अभिप्राय समझना चाहिये। प्रकृति के द्वारा जो-जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उन सबका उपभोग करनेवाला—अधिदैव है। यह पुरुष ही चैतन्य अर्थात् बुद्धि का नेत्र अथवा द्रष्टा है। यही इन्द्रियों के प्रदेशों का मुख्य अधिकारी अथवा राजा है और यही वह वृक्ष है जिस पर देह नष्ट होने के उपरान्त सङ्कल्प-विकल्प रूपी पक्षी जाकर विश्राम करते हैं। यह "अधिदैवत" नाम का पुरुष वास्तव मे मूलवाला परमात्मा ही है परन्तु परमात्मा से कुछ भिन्न होगया है। यह अहंकार निद्रा के वश मे रहता है और इसीलिये स्वप्नतुल्य माया के झगडे मे हर्ष और शोकादि का अनुभव करता है। जिसे लोग साधारणतः 'जीव' कहते हैं वह इसी पञ्चभूतात्मक शरीर पिण्ड मे का अधिदैवत है।"

करता है, प्रत्येक कर्म और विचार से संस्कार बनते हैं। मृत्यु के समय ज्ञान पीछे रह जाता है और संस्कार आगे बढ़के सामने खड़े हो जाते हैं। संस्कारों में भी जो सबसे अधिक बलवान् होता है, वह सबसे आगे रहता है। सारे जीवन में छल-कपट करनेवाले के सामने छल-कपट की छाया सन्मुख आती है, स्त्री-पुत्रों में मोह रखनेवाले के सामने अन्तिम समय तक उन्हीं का राग रहता है, भोग-वासना में जीवन वितानेवाले के सामने अन्तिम समय वासनायें खड़ी हो जाती हैं, जीवन भर जो कुछ किया जाता है वही अन्त में आगे आता है।

जो जीवन भर प्रेम, सत्य, सेवा, सदाचार के स्वरूप परमेश्वर में लगा रहता है वह अन्त में भी परमेश्वर को ही अपने सन्मुख देखता है, उसे मृत्यु की भयङ्करता डराने-धमकाने में समर्थ नहीं होती।

सच्चिदानन्द का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़नेवाला निश्चय-पूर्वक सच्चिदानन्द को प्राप्त कर लेता है।

भगवत्भाव में रहना साक्षात् मुक्ति है। मंगल-मार्ग पर चलने-वाले प्रयत्नशील जन क्रममुक्ति और जीवन-मुक्ति प्राप्त करके अन्तिम समय निःसन्देह परमेश्वर के भाव में मिल जाते हैं।

जो जीवन में मुक्त है, वही मर कर भी मुक्त होता है। जो दुःखी दीन और भयभीत रहता है वह मर कर भी दुःखों से नहीं छूटता। अतः मनुष्य को ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे जीवन और जीवन का अन्त सुन्दर तथा सुखमय बन जाय।

मृत्यु के समय सुखरूप परमेश्वर उसे ही मिलते हैं जो जीवनभर परमेश्वर से मिलता रहता है—

६

**यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥**

यम्, यम्, वा, अपि, स्मरन्, भावम्, त्यजति, अन्ते, कलेवरम्, तम्, तम्, एव, एति, कौन्तेय, सदा, तद्भावभावितः ।

कौन्तेय=हे कुन्तीपुत्र ! सदा=सदा, तद्भावभावितः=उसही भाव में लगा हुआ मनुष्य, अन्ते=अन्तकाल में यम् यम्=जिस जिस, वा अपि=भी, भावम्=भाव को, स्मरन्=स्मरण करता हुआ, कलेवरम्=शरीर को, त्यजति=त्यागता है, तम् तम्=उस उसको, एव=ही, एति=प्राप्त होता है ।

**अन्तिम समय तन त्यागता जिस भाव से जन व्याप्त हो ।
उसमें रंगा रहकर सदा, उस भाव को ही प्राप्त हो ॥**

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र ! सदा उस ही भाव में लगा हुआ मनुष्य अन्तकाल में जिस जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है उस उस को ही प्राप्त होता है ।

व्याख्या—आयु ढल जाने पर मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ थक जाती हैं और लाचारी से परमेश्वर की बातें सूझती हैं, परन्तु परमेश्वर हाथ नहीं आता । जिसने जीवन में कभी परमेश्वर का चिन्तन नहीं किया उससे मृत्यु के समय भी उसका स्मरण होना सम्भव नहीं है । निरन्तर अभ्यास से जो भावना बन जाती है वही अन्त में सामने आती है ।

वस्तु और उसके गुणों का मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है उसका नाम 'भाव' है। परमेश्वर का भाव, परमेश्वर के गुण एवं प्रभाव जानने से बनता है और स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति का भाव मोह-ममता के प्रभाव से बनता है। जीवनभर मनुष्य जिस भाव में लगा रहता है वही भाव मृत्यु तक उसके साथ रहता है। अन्तिम समय में इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, अन्तःकरण में शक्ति नहीं रहती, चलना-फिरना तो क्या, सोचना-विचारना भी कठिन हो जाता है; ऐसे समय में भी सारे जीवन में बना हुआ भाव साथ नहीं छोड़ता। आँखें बन्द होने पर भी जीव अपने प्रियजनों को देखने के लिये छटपटाता है, वाणी शिथिल पड़ जाने पर भी बोलना चाहता है; अङ्गों में शक्ति न रहने पर भी आलिङ्गन करना चाहता है, संस्कार उस अत्यन्त दीन-हीन दशा में भी पीछा नहीं छोड़ते।

जिसका स्वभाव सेवामय बन जाता है, सत्य, शील और संयम का भाव जिससे कभी नहीं छूटता, वह मृत्यु के समय भी अपने अभ्यस्त भावों में ही रहता है। व्याकुलता उसके अङ्ग नहीं तोड़ती, वासना उसे नहीं डराती, चिन्ता खाने को नहीं दौड़ती और भय किसी प्रकार की वेदना नहीं दे पाता—यही मुक्त अवस्था है। मुक्त पुरुष के भाव में स्थित रहनेवाले भगवान् मृत्यु के समय भी मधुर मोहिनी रूप में उसकी आँखों के सन्मुख रहते हैं, वंशी बजाते हैं, जीवन-नृत्य करते हैं और उसे परमानन्द में स्थित रखते हैं।

सत्य, सेवा और प्रेम रूप परमेश्वर के भाव में रहना जीवन का परम धर्म है—अन्तिम घड़ी को सुखमय बनाने के लिये परमेश्वर के भाव में रहना मनुष्य का कर्तव्य है।

७

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, माम्, अनुस्मर, युध्य, च,
मयि, अर्पितमनोबुद्धिः, माम्, एव, एष्यसि, असंशयम्।

तस्मात्=इसलिये, सर्वेषु=सब, कालेषु=समय में, माम्=मेरा, अनुस्मर=स्मरण कर, च=और, युद्ध=युद्ध भी कर, मयि=मुझमें, अर्पितमनोबुद्धि=अर्पित मन बुद्धिवाला, असंशयम्=निःसन्देह, माम्=मुझे, *एव=ही* *एष्यसि=प्राप्त होगा।*

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही सुमर कर युद्ध भी।
संशय नहीं मुझमें मिले, मन बुद्धि मुझमें धर सभी ॥

अर्थ—इसलिये सब समय में मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।

व्याख्या—अभ्यास बालकपन से ही बनते हैं। अच्छे अथवा बुरे प्रत्येक विचार और कर्म अपना अमिट-प्रभाव डालते हैं। बालकपन और यौवन में किये गये दुष्कर्म बुढापे को बिगाड़ देते हैं और शुभ कर्म, दुर्भाग्य को मेटकर बिगड़ी बना लेते हैं। अतः जीवन के प्रारम्भकाल से ही सावधान रहकर सदा शुभ कर्म करने का अभ्यास डालना चाहिये। सारी आयु में मनमाने विषय-भोग भोगकर आयु ढल जाने पर धर्म के कर्म करने का विचार एक धोखा है। स्वभाव

एक-दो दिन में नहीं बनता, वर्षों के तप और सतत अभ्यास के फल से बुद्धि दृढ़ होती है। पेन्शन पानेवाले को लगातार सत्य और परिश्रम से पच्चीस-तीस वर्ष नौकरी करनी पड़ती है। एक-एक पैसा जोड़कर बहुत बड़ी धनराशि बन जाती है। एक-एक क्षण के सदुपयोग से अन्त में जीवन सुखी बनता है। अतः इसी क्षण से जीवन को पवित्र और महान् बनाने का व्रत ले लेना चाहिये। असावधानी, अवहेलना, यौवन के मद अथवा अज्ञान से जीवन का दुरुपयोग करनेवाला अन्त में पछताता और घोर दुःख पाता है।

"बार-बार गीता पढ़ने से क्या लाभ है? एक बार देखी हुई मूर्ति के दिन-प्रतिदिन दर्शन करने में कौन-सा सुख है? प्रतिदिन प्रातःकाल ही क्यों उठा जाय? ठीक समय पर क्यों सोया जाय? दो-चार भूलें हो जाने से क्या बिगड़ता है? जवानी में सुख-भोग क्यों न भोगे जाँय" ऐसे सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है जैसे विचार और कर्म बन जावेंगे वैसा ही परिणाम होगा। जीवन का दुरुपयोग करके मनुष्य अपने-आपको बहका सकता है, परन्तु बुरे संस्कार एक दिन उसे दीन बनाकर गिड़-गिड़ाने और निराश होने का अवसर ले आते हैं।

जगत् में भलाई अथवा बुराई कभी व्यर्थ नहीं जाती। अतः सावधानी से विचार और विवेक-पूर्वक ऐसा रहन-सहन बनाना चाहिये जिससे निरन्तर शुभ संस्कार बनते चलें, अन्तिम समय तक सारी बुराइयाँ इतनी दूर चली जाँय कि फिर पास न आ सकें, सर्वत्र शुभ दर्शन हों, आँखें पवित्र देखें, कान पवित्र सुनें, वाणी सत्य और प्रिय बोले, पैर श्रेष्ठता की ओर बढ़ें, हाथ मङ्गलमय शुभ कर्म करें, जीवन आनन्द के अनन्त-सागर में ओत-प्रोत हो जाय और मुक्ति की मणियाँ बारम्बार हाथ में आकर जीवन का शृङ्गार करती रहें।

अनन्त आनन्द और जीवन्मुक्ति पाने के लिये नित्य सेवा तथा सत्य द्वारा परमेश्वर को अखण्ड-स्मरण करना और संघर्ष करते हुए आगे बढना चाहिये।

हृदय में परमेश्वर को रखने के लिये शुद्धि हो और निरन्तर आगे बढने की सद्बुद्धि हो, तब जीवन मङ्गल-मार्ग पर चलता है।

परमेश्वर के निरन्तर स्मरण से मन पवित्र रहता है, छल-कपट की वृत्ति नहीं बनती, मन किसी को धोखा देने की इच्छा नहीं करता और सत्कर्म स्वयं होने लगते हैं। ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि स्मरण केवल मौखिक है, अभी हृदय के सिंहासन पर परमेश्वर नहीं बैठा है, क्योंकि कर्म ने उसका अभिषेक नहीं किया।

कर्तव्य-पालन और स्मरण दोनों साथ-साथ रहते हैं। स्मरण सूर्योदय है और कर्तव्य-पालन उसके प्रकाश की किरणें। पुरुष और प्रकृति की भांति भक्ति और कर्म का साथ है। अत: भगवद्-स्मरण के साथ-साथ निरन्तर जीवन-युद्ध करने का आदेश गीता ने दिया है।

संसार युद्धों से भरा पड़ा है—मानसिक युद्ध, कर्म सम्बन्धी युद्ध और भौतिक युद्ध निरन्तर होते रहते हैं इन युद्धों से पीछे हटना—कायरता तथा पाप है, और निराश होना नास्तिकता है। परमेश्वर को साथ रखकर निरन्तर साहस से आगे बढ़ने में जीवन का सुख है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय आदि को ईश्वर की इच्छा पर छोड़कर निरन्तर युद्ध करना मनुष्य का धर्म है।

स्वार्थी और काम-कामीजन भी परमेश्वर का सहारा लेते हैं· अनेक प्रकार से उसकी आराधना करते हैं, परन्तु कोई पार्थिव लाभ न होने पर वे पूजा-वन्दन आदि छोड़ बैठते हैं। ऐसी स्वार्थ-वृत्ति ने धार्मिक क्षेत्र को दूषित कर दिया है। परमेश्वर के स्थान पर स्वार्थ की पूजा से

स्वार्थ-पूर्ति और अशान्ति के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं आता।

परमेश्वर का स्मरण—गंगा की धारा के समान निरन्तर चलता रहना चाहिये। निरन्तर स्मरण की गंगा, प्रेम की यमुना और पवित्रता की सरस्वती के संगम से मुक्तिदाता त्रिवेणी वन जाती है।

परमेश्वर के स्मरण से कर्म करने की वुद्धि कुशलता और प्रेरणा मिलती है। परमेश्वर जिसकी रक्षा करता है, उसे ऊँच-नीच में फिसलने अथवा गिरने का भय नहीं रहता। मन, वचन और कर्म से दिन-रात परमेश्वर का स्मरण करने और संसार के घोर संघर्ष में कर्तव्य-पालन करते चलने से सम्पूर्ण जीवन तथा जीवन की अन्तिम-घड़ी सुखमय वन जाती है। पवित्र मन और वुद्धि के योग से होनेवाला प्रत्येक कर्म परमेश्वर को प्रसन्न करता है।

मन और वुद्धि, दोनों का योग जीव को ब्रह्मरूप वना देता है। अकेला मन हो और वुद्धि न हो तो भी काम नहीं चलता और अकेली वुद्धि हो, मन न हो तो भी कर्म में पूर्णता नहीं आती। जहाँ दोनों मिलते हैं वहीं पुरुष और पुरुषोत्तम का मधुर मिलन होता है।

परमेश्वर और कर्तव्य पालन में मन तथा वुद्धि लगाने से जगत में रचनात्मक कर्म होते हैं। रचनात्मक कर्मों से सुख, सम्पन्नता और विश्व-शान्ति के द्वार खुल जाते हैं। स्वार्थ के लिये छल-कपट हिंसा और व्यभिचार में मन और वुद्धि को लगाने से जो सफलता मिलती है उससे विनाशात्मक काले कर्मों की वृद्धि निश्चित है।

कर्म करते हुए मन और वुद्धि को परमेश्वर में लगाना ही सुख, सेवा, सत्य और प्रेम स्वरूप परमेश्वर से मिलने का राजमार्ग है। परमेश्वर के मार्ग पर चलने के लिये जिस अभ्यास और आचरण की आवश्यकता है उसका वर्णन गीता ने इस प्रकार किया है—

८

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा, नान्यगामिना,
परमम्, पुरुषम्, दिव्यम्, याति, पार्थ, अनुचिन्तयन् ।

पार्थ=हे पार्थ, अभ्यासयोगयुक्तेन=अभ्यास योग से युक्त, नान्यगामिना=दूसरी ओर न जानेवाले चेतसा=चित्त से, अनुचिन्तयन्=निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य, परमम्=परम, दिव्यम्=दिव्य, पुरुषम्=पुरुष को, याति=प्राप्त होता है ।

अभ्यास-बल से युक्त योगी चित्त अपना साधके ।
उत्तम पुरुष को प्राप्त होता है उसे आराधके ॥

अर्थ—हे पार्थ ! अभ्यास-योग से युक्त दूसरी ओर न जानेवाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—जन्म के साथ मृत्यु लगी है, मनुष्य सदा मृत्यु के मुख में रहता है, अतः ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि किसी भी क्षण परमेश्वर का विस्मरण न हो । मृत्यु को मङ्गलमय, मधुर तथा सुखदायक बनाने का प्रयत्न करना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है । प्रकाशरूप परमेश्वर को पा लेने से यह कर्तव्य पूरा होता है ।

दिव्य पुरुष परमेश्वर को पाने के दो साधन हैं—

१—अभ्यास योग से युक्त होना।

२—किसी ओर न जानेवाले चित्त से परम पुरुष का ध्यान करना।

१—अभ्यास-योग से युक्त होना—

चित्त को एक स्थान पर ठहराने के लिये बार-बार प्रयत्न को 'अभ्यास' कहते हैं। स्वभाव को दृढ़ बना देना अभ्यास का फल है। सत्य में स्थित हो जाना अभ्यास का ध्येय है।

भक्तजन श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, आत्म-निवेदन, सख्य और दास्य नवधाभक्ति द्वारा अभ्यास करते हैं।

योग दर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को 'अभ्यास' कहा है। अभ्यास की पूर्णता का नाम समाधि है।

बारम्बार सब ओर से मन को हटाकर निश्चित कर्म अथवा ध्यान में लगाना अभ्यास है। अपने ध्येय में सहज स्वभाव से तल्लीन हो जाना अभ्यास का फल है।

आत्मा का परमात्मा के साथ मेल करना योग है। इस योग के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना अभ्यास है।

विषय विकारों की ओर से मन को हटाने के सत्याग्रह का नाम अभ्यास है।

अभ्यास इतना हो जाना चाहिये जिससे मन, सरलता और सुख पूर्वक ध्येय में लगा रहे। मन को जहाँ लगाना हो वहाँ न लगे तो अभ्यास अधूरा समझना चाहिये।

चलते-फिरते, उठते, बैठते-सोते, जागते किसी भी अवस्था में

अभ्यास के साधन गीता-ज्ञान अध्याय ६ श्लोक ३५ में देखिये।

कुमार्ग पर मन न जाने देने से परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन होता है। ऐसा अभ्यास बन जाने पर पुरुष परमेश्वर से अलग नहीं रहता।

२—किसी ओर न जानेवाले चित्त से परम पुरुष का ध्यान करना—

अभ्यास हो जाने पर मन को एकाग्र करके अनन्य चित्त से परमेश्वर मे लगाना चाहिये। प्रायः अशुभ और हीन अभ्यास दृढ़ होने मे देर नहीं लगती। अधिकांश नर-नारी ऐसे होते हैं, जिनका मन ध्यान मे बैठते ही इधर-उधर दौडने लगता है अथवा नींद आने लगती है। स्वाभाविक कर्म से विपरीत दूसरी ओर मन जाने का अभ्यास दृढ़ हो जाने से किसी भी कार्य मे सफलता नहीं मिलती। मन को किसी ओर न जाने देकर परम पुरुष का चिन्तन करने से जो अभ्यास बनता है, वह सदा शुभ विकारहीन और अपराजित होता है।

प्रातः पूजा-वन्दन तथा ध्यान का सर्वश्रेष्ठ उपयोग और फल यही है कि उसके द्वारा बने हुए अभ्यास से मनुष्य का मन प्रत्येक कार्य मे दृढ़ता से लगने लगता है।

इस प्रकार सदा परमेश्वर के भाव मे रहना, मन और बुद्धि को श्रद्धा विश्वास तथा सन्मान सहित परमेश्वर के अर्पण करना और किसी ओर चित्त को न जाने देना सर्व श्रेष्ठ अभ्यास है; ऐसा अभ्यास करने-वाला किसी भी समय परमेश्वर से पृथक् नहीं होता और जीवन की अन्तिम घड़ी मे भी परमेश्वर के साथ रहकर आनन्द से हँसता-बोलता है।

अन्त समय तक जिसकी आँखों के सामने दिव्य पुरुष का प्रकाश रहता है वही मुक्त है। दैवी प्रकाश मे कर्म करनेवाले कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होते—परमेश्वर उनकी सदा सहायता करता है।

प्रकाश-पुञ्ज और सदा सहायक परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन गीता ने इस प्रकार किया है—

९

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम्, अणोः, अणीयांसम्, अनुस्मरेत्, यः, सर्वस्य, धातारम्, अचिन्त्यरूपम्, आदित्यवर्णम्, तमसः, परस्तात् ।

कविम्=कवि, पुराणम्=अनादि, अनुशासितारम्=सबके नियन्ता, अणोःअणीयांसम्=सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सर्वस्य=सबके, धातारम्=धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यरूपम्=अचिन्त्य स्वरूप, आदित्यवर्णम्=सूर्य के समान, तमसः=अंधेरे से, परस्तात्=परे, (परमात्मा को) यः=जो, अनुस्मरेत्=स्मरण करता है ।

सर्वज्ञ, शास्ता, सूक्ष्मतम, आदित्य-सम, तम से परे ।
जो नित अचिन्त्य अनादि सर्वाधार का चिन्तन करे ॥

अर्थ– कवि, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के समान, तम से परे, परमात्मा को जो स्मरण करता है ।

व्याख्या—कवि के रूप में परमेश्वर ही बोलता है। कवि का अर्थ है—सर्वज्ञ ।

कवि—

कवि त्रिकालदर्शी होता है। कवि सर्वज्ञ है, उसकी वर्णन-शैली अद्भुत होती है, उसकी गति सर्वत्र रहती है। ज्ञानी, बुद्धिमान,

विचारवान्, तत्त्वदर्शी और निर्माता के रूप मे कवि, अपनी विलक्षण रचना करता है।

परमेश्वर कवि है और सृष्टि उसकी कविता। कवि की शक्ति अपार है, उसमे नित्य-नूतनता रहती है। कवि की सृष्टि मे एक विलक्षण व्यञ्जना और रहस्यमय आनन्द रहता है। कवि प्रत्येक हृदय मे क्रान्ति करता है।

कवि की सृष्टि मे वन, पर्वत, सरिता, निर्झर, कुञ्ज, वृक्ष, लता आदि से अक्षर ब्रह्म बोलता है। कवि ब्रह्म रूप है। कवि का रूप विकृत हो जाने से सृष्टि का रूप बिगड जाता है। कवि की कविता म दैवी प्रवाह और प्रसाद न हो तो वह निष्प्राण हो जाती है। कवि सर्वज्ञ और सचेत रहता है तो संसार अमृत भाव से भर जाता है। कवि, सीमित ज्ञान और हीनता मे बँध जाता है तो ससार मे अज्ञान और अन्धकार फैल जाता है।

जो वास्तव मे कवि हैं, जिनका काव्य बालचन्द्र की भाति शिव की शोभा बढाता है, जिनके काव्य सूर्य को युग और काल का केतु नहीं ग्रसता, जिनकी कला श्रीकृष्ण की वशी ध्वनि के समान सर्वप्रिय, आकर्षक और प्रेरणात्मक होती है उनका चिन्तन परमेश्वर का ही चिन्तन है।

पुराणम्—

जो अनादि है, सनातन है और सबका आदि कारण है उसे 'पुराण' कहते है। परमेश्वर पुरातन पुरुष है, वह अत्यन्त प्राचीन होकर भी नित्य नवीन है, उसके भाव मे कहीं अभाव या सीमा नहीं है।

सीमित, नाशवान् और एकदेशीय विचारों से मनुष्य सीमित, सकुचित, अनुदार और अपूर्ण रह जाता है। परमेश्वर के अनन्त

अनादि और सनातन-स्वरूप के चिन्तन से शान्ति सुलभ होती है।

अनुशासिता—

परमेश्वर सबका शासक, स्वामी, नियन्ता और सर्वशक्तिमान् है। उसके शासन में कहीं दुःख, रोग, शोक और अन्याय नहीं है। जो ईश्वरीय शासन को नहीं मानता, विद्रोह करता है और अराजकता बढ़ाता है वह प्रकृति के बलवान्, निर्भय तथा निष्पक्ष हाथों से दण्ड पाता है।

उस सर्वनियन्ता के शासन में रहनेवाले राम-राज्य का सुख भोगते हैं उसकी आज्ञा, सर्वोपरि मानकर तदनुसार आचरण करनेवाले की रक्षा का भार परमेश्वर स्वीकार करता है। परमेश्वर के शासन में रहनेवाले सदा स्वतन्त्र और सम्पन्न रहते हैं। उस अनुशासक का ध्यान मनुष्य को सब प्रकार मुक्ति-प्रदान करता है।

अणोः अणीयान्—

परमेश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। अणु और परमाणु में भी परमेश्वर है। सर्व व्यापक होने के कारण वह महतो महीयान् अर्थात् महान् से भी महान् है। सारे संसार में उसी की हलचल है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्त्व और विचार में जिनकी बुद्धि का प्रवेश होता है और जिनकी सावधान तथा ज्ञान से खुली आँखें उस सूक्ष्म से भी सूक्ष्म का महान् दर्शन करती हैं वे परमेश्वर का सच्चा ध्यान करनेवाले हैं।

सर्वस्य धाता—

सबका धारण करनेवाला ब्रह्माण्ड का आधार परमेश्वर है। वह निर्बल का बल, अनाथों का नाथ, सबका आश्रयदाता और कर्ता-भर्ता है। आत्मा-परमात्मा, शक्ति, ज्ञान जो कुछ है वह सब परमेश्वर

से है। परमेश्वर सबका धारण करनेवाला है। जो उसे अपने हृदय में धारण करता है, उससे ईश्वरीय शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। उस विधाता का ध्यान, मनुष्य को महान् बना देता है।

अचिन्त्य रूप—

परमेश्वर का रूप अचिन्तनीय है। मन और बुद्धि की पहुँच से परे है—तर्क से परमेश्वर नहीं जाना जाता। मन और बुद्धि को उसके अर्पण कर देनेवाला जब उसे आत्मसात् कर लेता है तब उसकी दी हुई बुद्धि और पवित्र मन से उसका ज्ञान होता है। परमेश्वर हृदय-ग्राह्य हैं; बुद्धि-ग्राह्य नहीं। हृदयवान् पुरुष उसे जान पाते हैं। उस अचिन्त्य का चिन्तन करने में वही समर्थ होता है जिसके हृदय में बैठकर परमेश्वर सामर्थ्य देते हैं।

आदित्य वर्ण—

परमेश्वर सूर्य के समान तेजस्वी और प्रकाशमान् है। उसके पास कहीं अविद्या, अन्धकार और अज्ञान का काम नहीं। साधारण दृष्टि से उसकी ओर देखना दुष्कर है। उसे कोई ही तेजस्वी और तप से पवित्र हुआ मनुष्य देखने योग्य होता है। उस कोटि-कोटि सूर्यों जैसी प्रभावाले परमेश्वर की उपासना करने के लिये उज्ज्वल चरित्र और पवित्र हृदय चाहिये।

तमसः परस्तात्—

परमेश्वर अंधेरे से परे है। जिस प्रकार सूर्य की एक किरण ही अन्धकार को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार परमेश्वर के स्वरूप की झलकमात्र से पाप कट जाते हैं, अन्धकार नष्ट हो जाता है और एक महाप्रकाश भर जाता है।

वेदों में परमेश्वर को "तमसः परस्तात्" कहा है। जब असत्य, दम्भ, काम, क्रोध, आलस्य, निद्रा-तन्द्रा आदि विषय-विकारों में जीवन उलझ जाता है, मन की शक्तियों का विकास रुक जाता है और स्वाभाविक ज्ञान-ज्योति पर अन्धकार का परदा पड़ जाता है, तब परमेश्वर की प्रतीति नहीं होती। परमेश्वर को जानने के लिये अंधेरे से परे होना चाहिये। जो विकार रूप वृत्रासुर के साथ इन्द्र की भांति बारम्बार जूझता है, क्षुद्रता को त्यागकर महान् बनने का प्रयत्न करता है और अंधेरे से प्रकाश की ओर जाता है, वह उस अन्धकार से परे रहनेवाले परमेश्वर को पा लेता है।

जो अंधेरे से परे रहनेवाले पुरुष को जानता है वह मृत्यु को लाँघ जाता है। परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग अंधेरे से परे है।

तन और मन की शक्ति को खोखला करनेवाले विकारों से छूटकर मानसिक निर्बलताओं को दूर कर देने से परमेश्वर का उज्ज्वल प्रकाश प्रकट होता है। उस प्रकाश में सर्वत्र मङ्गल-मार्ग प्रकट हो जाते हैं, उन पर चलनेवाला नित्य-निरन्तर अनन्त आनन्द की ओर बढ़ता है, उस पथ पर कहीं अंधेरा नहीं मिलता।

आजीवन उस सर्वज्ञ महान् जगन्नियन्ता, कर्ता-धर्ता, ज्योतिर्मय परमेश्वर का ध्यान धरनेवाला अन्तिम समय भी उसे नहीं भूलता। उसे न भूलनेवाला सदा मुक्त है, क्योंकि उसका जीवन सधा हुआ तथा अनुशासन में रहता है; वह कभी अविद्या और अन्धकार में नहीं पड़ता, उसे अपने जीवन-निर्वाह की चिन्तायें नहीं जलातीं और उसमें सर्वतोमुखी प्रतिभा उभरी पड़ती है।

अन्तिम समय भी उसी के ध्यान में रहने का साधन और फल गीता ने इस प्रकार बताया है—

१०

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्

प्रयाणकाले, मनसा, अचलेन, भक्त्या, युक्तः, योगबलेन, च, एव, भ्रुवोः, मध्ये, प्राणम्, आवेश्य, सम्यक्, सः, तम्, परम्, पुरुषम्, उपैति, दिव्यम् ॥

प्रयाणकाले=अन्तकाल में, अचलेन=निश्चल, मनसा=मन से, च=और, योगबलेन=योग बल से, प्राणम्=प्राणों को, सम्यक=अच्छी प्रकार, भ्रुवो=भृकुटि के, मध्ये=मध्य में, आवेश्य=स्थापित करके, स=वह भक्त्यायुक्त=भक्ति युक्त पुरुष, तम्=उस, दिव्यम्=दिव्य, परम्=परम, पुरुषम्=पुरुष को, एव=ही, उपैति=प्राप्त होता है।

कर योग बल से प्राण भृकुटी-मध्य अन्तिम काल में।
निश्चल हुआ वह भक्त मिलता दिव्य पुरुष विशाल में॥

अर्थ– अन्तकाल में निश्चल मन से और योगबल से प्राणो को अच्छी प्रकार भृकुटि के मध्य में स्थापित करके वह भक्ति-युक्त पुरुष उस दिव्य परम पुरुष को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या—चलनेवाले का सदा प्रयाणकाल है। मनुष्य, प्रतिक्षण मृत्यु की ओर प्रयाण करता है। वह मृत्यु-लोक की यात्रा करनेवाला एक पथिक है। अतः इस प्रयाण-काल में प्रत्येक समय परमेश्वर का चिन्तन करना उचित है।

नित्य पूरा पाठ पढ़नेवाला विद्यार्थी जैसे किसी भी समय परीक्षा के लिये तय्यार रहता है, उसी प्रकार सदा परमेश्वर को साथ रखकर कर्तव्य-पालन करनेवाला किसी समय भी मृत्यु से भयभीत नहीं होता। अकर्मण्य और अधूरे मनुष्य को भय, चिन्ता और व्याधियाँ घेरती हैं और किसी भी समय पकड़-जकड़ कर मृत्यु के पास ले जाती हैं।

अन्तिम समय तक परमेश्वर का स्मरण करनेवाला सच्चिदानन्द-मय हो जाता है।

उस परम पुरुष में मिल जाने के लिये ध्यान अथवा स्मरण करने के तीन साधन इस श्लोक में कहे गये हैं—

१—निश्चल मन से।

२—प्राणों को अच्छी प्रकार योग बल से भृकुटी के मध्य में स्थापित करके।

३—भक्ति युक्त होकर।

१. निश्चल मन से—

मन की चञ्चलता किसी भी कर्म में पूरी शक्ति से नहीं लगने देती। शक्ति-हीन को मृत्यु दबाये रहती है। मन का संयम टूटते ही मृत्यु खिल-खिलाकर हँसती है और संयमहीन को भयभीत कर देती है। संयमी जन मृत्यु को भयंकरता हटाकर उसे सुखमय बना लेते हैं।

मन का संयम करनेवाले की असमय-मृत्यु नहीं होती। वह भय, अज्ञान, अभाव और जीवन के पतन से होनेवाली मृत्यु के मुख में नहीं जाता। जीवन में केवल एक बार मृत्यु उसके सन्मुख आती है—वह भी श्रेष्ठतर रूपान्तर अथवा मुक्ति के लिये। पवित्र मन की

निश्चल अवस्था मे जो कुछ होता है वह सब परमेश्वर की भक्ति है।

मन मे मनोमय देवता का निवास हो जाने से उसकी चञ्चलता मिट जाती है और वह महाशक्तिशाली बन जाता है। राग, भय, क्रोध, काम, द्वेष, चिन्ता आदि मनोविकार शरीर मे विष और रोग उत्पन्न करते है और धीरे-धीरे मनुष्य को खा जाते हैं। मन को सब ओर से हटाने से उसकी शक्ति बढती है, शरीर मे विष उत्पन्न नहीं हो पाता और मनुष्य विकारों से बचा रहता है। ऐसी निश्चल और निर्विकारी अवस्था मे ही पुरुष परमेश्वर से मिलने योग्य होता है।

२. प्राणों को योग-बल से भृकुटी के मध्य में स्थापित करके—

मन को सब ओर से हटाने मे योग का बल सहायता देता है। योग से सधा हुआ मन सब ओर से नाता तोडकर ध्यान मे जुड़ जाता है। योग मे सब दुःखों से वियोग हो जाना है।*

योग के अभ्यास से कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों की एकता हो जाती है, कर्म करने की कुशलता और युक्ति मिलती है और परमेश्वर सदा सन्मुख बने रहते हैं। परमेश्वर के साथ रहने से पाप आदि विकार तथा दुष्कर्म देह-भवन के बाहर रहते है— भीतर आने का साहस नहीं करते।

जीवन भर ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि अन्तिम समय मे भृकुटी का मध्य स्थान ध्यान का केन्द्र बन जाय। चाहे उसमे प्राणरूप परमेश्वर को स्थापित किया जाय और चाहे योग-शास्त्र के अनुसार दोनों भौंहों के बीच आज्ञा-चक्र मे प्राणों का संयम किया जाय दोनों का फल परमेश्वर की प्राप्ति है।

योगी-जन, सब ओर से चित्त वृत्तियों को समेटकर आत्मा मे

---

* योग का वर्णन गीता-ज्ञान अध्याय ६ श्लोक २३ मे देखिये

तल्लीन होने का अभ्यास कर लेते हैं, मन की स्थिरता और धैर्य से वे प्राणों को सुषुम्ना के मध्य-मार्ग से अग्नि-चक्र और ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाकर आज्ञा-चक्र में टिका देते हैं। ऐसा करने से परम शान्ति और अखण्ड-आनन्द सुलभ होता है। यही ब्रह्म-भाव और मुक्ति है। प्राणों को संयमित, पवित्र और शक्तिशाली रखनेवाला सदा मुक्त रहता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राणों की महिमा का वर्णन है—

'प्राणो हि प्रजापतिः।' 'प्राणो अमृतम् तद् हि अग्नेः रूपम्।'

प्राणों की साधना सर्वश्रेष्ठ योग है। स्वास्थ्य, सुन्दरता, सद्बुद्धि, सद्गुण और सम्पूर्ण जीवन की सफलता प्राणों की शक्ति पर निर्भर है।

राजा जनक की विद्वत्परिषद् में एक दिन शाकल्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा था—

कतम एको देव इति। प्राण इति। स ब्रह्म तदित्याचक्षते।

वह एक देव कौनसा है? वह प्राण है, उसी को ब्रह्म कहा जाता है।

महर्षि कौषीतकि ने प्राणों की महिमा का गान किया है।

प्राणो ब्रह्म—प्राण ही ब्रह्म है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

प्राणो वा अर्कः। 'अमृतमु वै प्राणः।'

इस जगत् में जिसके कारण सम्पूर्ण शक्ति और हल-चल है वह प्राण हैं। प्राणों से ही जीव चैतन्य है।

प्राणों के संयम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि योग से जो चिकित्सा होती है उसे 'दैवी चिकित्सा' कहते हैं। औषधियों के द्वारा की गई चिकित्सा 'मानुषी चिकित्सा' है। चीर-फाड़

आदि के द्वारा की गई चिकित्सा को 'आसुरी चिकित्सा' कहते हैं।

पवित्र वायु में विचरने और प्राण तथा अपान दोनों की साधना से कोई आधि व्याधि प्राणी के पास नहीं आती। जिसके प्राण बलवान् होते हैं उसे अन्तिम समय तक किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती, ऐसा मनुष्य स्वय अपना चिकित्सक होता है।

जब जीवन की कोई आशा नहीं रहती तब औषधियों को छोड़कर तुलसी पत्र और गङ्गाजल मुख में डालकर परमेश्वर का नाम लेने और ध्यान करने की प्रथा प्रचलित है। इसलिये मरण-काल में शान्ति और मुक्ति पाने के लिये गीता प्राणों को योग-बल से भृकुटि के मध्य में स्थापित करने का आदेश देती है। जन्म भर के अभ्यास से ही ऐसा होना सम्भव है।

भृकुटि के मध्य में आज्ञा-चक्र है। सम्पूर्ण शरीर को चेतना देना और सावधान तथा व्यवस्था में रखना आज्ञा-चक्र का कार्य है। प्राणों को आज्ञा चक्र में टिकाने से सम्पूर्ण शरीर में आनन्द और अमृत भर जाता है। काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि विकारों पर विजय पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय प्राणों का सयम है। भृकुटी पर क्रोध, चिन्ता और व्यथा के बल पड़े रहने से उसकी शिव-शक्ति सिकुड़ जाती है। सुन्दर ललाट पर प्रसन्नता की रेखा उभरी रहने से आज्ञा-चक्र से प्राण बल पाते हैं।

३. भक्ति-युक्त होकर —

मन प्रसन्न और शान्त रहे, योग से सावधानी तथा कुशलता जागी रहे और भक्ति से परमेश्वर का प्रेम उमड़ता रहे, तब अन्तिम-समय में तेजोमय ब्रह्म की प्राप्ति का सुख मिलता है।

भक्ति से ज्ञान और कर्म का मेल हो जाता है। भक्ति, हृदय और बुद्धि के मैल को प्रेम के पवित्र जल से धो डालती है। भक्ति,

११

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

यत्, अक्षरम्, वेदविदः, वदन्ति, विशन्ति, यत्, यतयः,
वीतरागाः यत्, इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति,
तत्, ते, पदम्, संग्रहेण, प्रवक्ष्ये ॥

यत्=जिसे, वेदविदः=वेद के जाननेवाले, अक्षरम्=अक्षर, वदन्ति=कहते हैं, यत्=जिसमें, वीतरागाः=वीतराग, यतयः=यति, विशन्ति=प्रवेश करते हैं, (और) यत्=जिसको, इच्छन्तः=चाहनेवाले, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचर्य का, चरन्ति=आचरण करते हैं, तत्=उस, पदम्=पद को, ते=तुझसे, (मैं) संग्रहेण=संक्षेप में, प्रवक्ष्ये=कहूँगा।

अक्षर कहें वेदज्ञ, जिसमें राग तज यति जन जमें।
हों ब्रह्मचारी जिसलिये, वह पद सुनो संक्षेप में ॥

अर्थ—जिसे वेद के जाननेवाले अक्षर कहते हैं, जिसमें वीतराग यति प्रवेश करते हैं और जिसको चाहनेवाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस परम पद को तुझसे मैं संक्षेप में कहूँगा।

व्याख्या—बन्धनों से मुक्त होने के लिये गीता उस परम पद का वर्णन करती है—

१—जिसे वेदों को जाननेवाले अक्षर कहते हैं।

२—जिसमें वीतराग यति प्रवेश करते हैं।

३—जिसको चाहनेवाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं।

१. वेदों में ज्ञान का अनन्त-सागर हिलोरें लेता है। अनन्ता वै वेदा.।

वेदों को जाननेवाले 'अक्षर' पद को पहचानते हैं और उसकी उपासना करते हैं। अक्षर पद का ज्ञान वेदों का सार है।

२. राग और द्वेष से अलग रहनेवाले वीतराग पुरुष सदा उस 'अक्षर' पद में टिके रहते हैं अथवा प्राप्त कर लेते हैं।

राग विषयों में लगाये रखता है और द्वेष सद्गुणों से दूर करता है। राग और द्वेष को छोड़नेवाले ब्रह्म के पथ को देखने योग्य होते हैं।

३. उस 'अक्षर' को प्राप्त करने की इच्छा से नर-नारी ब्रह्मचर्य से रहते हैं। ब्रह्मचर्य, मन और इन्द्रियों को पवित्र करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। ब्रह्मचर्य, इन्द्रियों के संयम का नाम है। नियम-संयम और सावधानी से पवित्र जीवन व्यतीत करनेवाले 'ब्रह्मचारी' कहे जाते हैं। स्थिर-बुद्धि होने के लिये, शान्ति तथा सुख मे निमग्न रहने के लिये और कर्म में कुशल होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता पाने के लिये साधना करनेवाले को ब्रह्मचारी कहते हैं।

भोगों से हटकर ब्रह्म में तन्मय होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ है—ब्रह्म+चर्य=ब्रह्म के साथ चलना। ब्रह्म को 'हिरण्य' भी कहते हैं। हिरण्य—वीर्य का भी नाम है—

'रेत. हिरण्यम्।' (तैत्तीरीय ३।८।२।४)

बल, बुद्धि, विद्या और आनन्द देनेवाला शरीर में स्थित वीर्य अथवा हिरण्य है।

ऋषि, मुनि और याज्ञिकजन जिस सोमरस का पान करते हैं वह ब्रह्मचर्य से प्राप्त अमृत ही है। सोमरस का आयुर्वेद ग्रन्थों में अनेक प्रकार से वर्णन मिलता है, परन्तु वेदों के अनुसार 'रेतः सोमः' वीर्य ही सोम रस है। (शतपथ ३।३।२।१)

'रेत' को प्राण भी कहा गया है 'रेतो वै प्राणः ।'

अमृतपान, हिरण्य पुरुष की प्राप्ति और प्राणों की रक्षा का सर्वोत्तम साधन ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी वीर्य की रक्षा करके अमृत पीता है। वीर्य उसे अमरता देता है। उसके अंग-अंग से असीम चेतना उमड़ पड़ती है। वीर्य रूपी अमृत के प्रभाव से शारीरिक शक्ति, स्वास्थ्य, मेधा और पराक्रम की अद्भुत वृद्धि होती है।

वीर्य के अशुद्ध होते ही शरीर में अमृत के स्थान पर विष भरने लगता है; मन दूषित हो जाता है और व्याधियाँ घेर लेती हैं।

शरीर-विज्ञान शास्त्र के अनुसार यह तन मेरुदण्ड के सहारे खड़ा रहता है। मेरुदण्ड की शक्ति सुषुम्ना है। सुषुम्ना के रस से प्राणों को बल मिलता है, शरीर में स्फूर्ति रहती है और मस्तिष्क पुष्ट रहता है। यह रस 'वीर्य' है। वीर्य के नष्ट होते ही मेरुदण्ड झुक जाता है, प्राणों की शक्ति निर्बल हो जाती है और मस्तिष्क रीता हो जाता है। यही बुढ़ापा है। ब्रह्मचारी, तप और संयम से वीर्य की रक्षा करके बुढ़ापे को जीत लेता है और जितेन्द्रिय होकर ऐसा अमृत-रस पीता है जिसके सामने विषय रस फीके पड़ जाते हैं।

ब्रह्म प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य से उत्तम और कोई साधन नहीं है। ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग, तप, पुरुषार्थ और सम्पूर्ण साधनों की नींव की ईंट ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी के लिये देवयान का मार्ग खुलता है।

ब्रह्म के तीन शरीर हैं—१. स्थूल, २. सूक्ष्म, ३. पर। स्थूल शरीर शुक्र रूप है। शुक्र—वीर्य का पतन ब्रह्म-शक्ति का पतन है। पञ्चाग्नि ब्रह्म का सूक्ष्म रूप है और सदा साक्षी अच्युत 'पर' रूप है।

वेदविद्, वीतराग और ब्रह्मचारी ही परम पद की साधना के योग्य होते हैं। उस साधना का प्रारम्भ करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

१२

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

सर्व, द्वाराणि, संयम्य, मनः, हृदि, निरुध्य, च, मूर्ध्नि, आधाय, आत्मनः, प्राणम्, आस्थितः, योगधारणाम् ।

सर्व=सब इन्द्रियो के, द्वाराणि=द्वारो को, सयम्य=रोककर, मन=मनको, हृदि=हृदय में, निरुध्य=ठहराकर, च=और, आत्मन=अपने, प्राणम्=प्राण का, मूर्ध्नि=मस्तक में, आधाय=स्थापित करके, योगधारणाम्=योग धारणा मे, आस्थित=लगा हुआ ।

सब इन्द्रियों को साधकर निश्चल हृदय में मन धरे ।
फिर प्राण मस्तक में जमाकर धारणा योगी करे ॥

अर्थ—सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर मन को हृदय में ठहराकर और अपने प्राण को मस्तक में स्थापित करके योग-धारणा में लगा हुआ ।

व्याख्या—ईश्वरीय-निधि की अटूट-सम्पत्ति पाने के लिये गीता ने तीन साधन बताये हैं—

१—सब द्वारों को रोकना ।

२—मन को हृदय मे ठहराना ।

३—प्राणों को मस्तक में स्थापित करके योग की धारणा मे लगना ।

१. सब द्वारों को रोकना—

जिस प्रकार विद्वान् ज्ञानीजन ज्ञान की रक्षा करते हैं, बलवान् बल की रक्षा करते हैं, धनवान् धन की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के अभिलाषी परमेश्वर रूपी परम धन को सुरक्षित रखते हैं।

सुरक्षा के लिये देश, नगर और घरों के द्वारों पर प्रायः पहरा बैठा दिया जाता है, जिससे कोई चोर, लुटेरा प्रवेश न कर पाये। इसी प्रकार आध्यात्मिक धन की रक्षा के लिये देह के द्वारों पर संयम का पहरा बैठाना चाहिये।

शरीर में नौ द्वार हैं—

'नौ द्वारे का पींजरा तामें पञ्छी पौन।
रहिवे में अचरज महा गये अचम्मा कौन॥'

पवन रूपी पक्षी की रक्षा के लिये और ईश्वरीय धन से सब प्रकार सम्पन्न रहने के लिये इन्द्रियों के नौ दरवाजों पर सावधानी से संयम रखना अत्यन्त आवश्यक है। जिस इन्द्रिय का संयम शिथिल हो जाता है उसी के द्वार से आध्यात्मिक पूँजी को काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा, अहंकार, राग-द्वेष, भय, रोग, शोक आदि चोर डाकू चुरा अथवा लूट ले जाते हैं।

योग, भक्ति, ज्ञान अथवा तीनों की साधना से किसी भी प्रकार संयम होने पर मनुष्य में दिव्य शक्ति जाग उठती है, सावधानी उसके संकेत पर तत्पर रहती है और विदेशी तथा विकारी-भाव उसे छलने में समर्थ नहीं होते।

योगीजन अष्टांग योग द्वारा जीवन को नियम-संयम में लाते हैं। भक्त जन अपने तन-मन को भगवद् भाव में ऐसा निमग्न कर

लेते हैं कि संयम स्वयं हो जाता है।

भक्त कबीर ने संयम के लिये इन्द्रियों के द्वारों पर अपने प्रियतम को ही बैठा दिया है—

प्रियतम छवि नैनन बसी पर छवि कहाँ समाय।
कबिरा काजर रेखहू अब तो दई न जाय॥

२. मन को हृदय में ठहराना—

जब अन्तर में बाहिरी विकार प्रवेश नहीं कर पाते, तब हृदय में पवित्र भावों का अलख जागता है, आत्म-तृप्ति हो जाती है, मनुष्य अपने-आप अपने सुख में निमग्न रहता है, ज्ञान-दृष्टि खुल जाती है, और सब इन्द्रियाँ अपनी-अपनी शक्ति से संयमीजन को सहारा देती है। संयम की इस अवस्था में मन को हृदय में टिकाना चाहिये। यदि मन भागता रहा, तो संयम कितना ही दृढ़ क्यों न हो, एक न एक दिन टूट जाता है।

भगवान् बुद्ध ने मन को हृदय में स्थित रखने के लिये मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चार श्रेष्ठ साधन कहे हैं।

मन को हृदय में टिकाने का अभिप्राय है—हृदयवान् होना। हृदय से किये गये योग, जप, तप, भक्ति आदि कर्म सदा सफल होते हैं। हृदय से उमड़े हुए भावों का प्रवाह गङ्गा की भांति निर्मल और पवित्र करनेवाला होता है।

३. प्राणों को मस्तक में स्थापित करके योग की धारणा—

मस्तिष्क प्राणों का स्थान कहा गया है। मस्तिष्क में ही सब देवताओं का निवास है—यही स्वर्ग है। ज्ञान, ज्योति और चेतना का भण्डार मस्तिष्क है। मस्तिष्क को अथर्ववेद ने देवकोश कहा है।

'तद्वा अथर्वण शिरो देव कोश' (अथर्व० १०।२।२७)

१. 'ॐ' का उच्चारण—

'ॐ' एक-अक्षर रूप ब्रह्म है। 'ॐ' का उच्चारण और ध्यान करने से परमेश्वर का नाम-जप और स्मरण होता है। 'ॐ' के उच्चारण से होनेवाला प्रारम्भ और अन्त सुख, प्रसन्नता, शान्ति और मुक्ति-दायक होता है।

श्रद्धा और संयम से सत्कार पूर्वक 'ॐ' का उच्चारण स्वयं में एक पूर्ण साधना है। 'ॐ' के उच्चारण से मन, वचन और कर्म में ऐसा बल आता है, जिसके सामने साँसारिक बाधायें नहीं ठहरतीं और सम्पूर्ण जीवन तथा अन्त समय आनन्दमय बन जाता है। शरीर में निवास करनेवाले सम्पूर्ण देवताओं को 'ॐ' के उच्चारण से हवि मिलती है, क्योंकि वेदों, उपनिषदों और गीता के अनुसार 'ॐ' एकाक्षर ब्रह्म है।

'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥'

(कठ० २।१६)

'ॐ' यह एक अक्षर ही ब्रह्म है। यह अक्षर ही परमात्मा का परम तत्त्व है। इसी 'ॐ' एक-अक्षर को जानकर जो जैसा चाहता है, वैसा पाता है।

'ओमिति ब्रह्म'—'ॐ' यह ब्रह्म है।

'ओमितीदं सर्वम्'—यह दीखनेवाला समस्त जगत् 'ॐ' है।

(तैत्ति० १।८)

'ॐ' से सम्पूर्ण सदुपदेश प्रारम्भ होते हैं। 'ॐ' से वेदों का गान आरम्भ होता है। 'ॐ' का उच्चारण करके मन्त्र-जप होता है। 'ॐ' ही प्रणव है। 'ॐ' मन्त्रों का बीज है। ब्रह्म और जीव का

गठ-बन्धन करनेवाला 'ॐ' है। 'ॐ' से ज्ञान और बुद्धि का मधुर-मिलन होता है। वेद-सिन्धु के मन्थन से जो कुछ निकलता है वह 'ॐ' है। 'ॐ' वेदों का प्रतिनिधि है। 'ॐ' परमात्मा का रूप है—

'ॐ' के उच्चारण से परमेश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, ज्ञान सुलभ हो जाता है, अन्त करण की पवित्रता बढ़ती है, निष्ठा दृढ़ होती है, दैवी गुणों का उदय होता है और शुभ कर्मों मे मन लगता है। 'ॐ' जीवन को सत्य, शिव और सुन्दर बनानेवाला मन्त्र है।

'ॐ' की उत्पत्ति 'अव-रक्षण' धातु से है जो संसार-सागर से रक्षा करता है वह 'ॐ' है— अवति ससार सागरात।'

'ओङ्कार' मे तन्मय होनेवाला जीवन्मुक्त होता है।

'ॐ य पुनरेतत त्रिमात्रेणोमित्यननैवाक्षरेण।
परम पुरुषमभिध्यायति स तमधिगच्छति॥'

जो सत्कार-सहित वारम्बार इस त्रिमात्रिक 'अ+उ+म्=ओम्' का उच्चारण करके परम पुरुष का ध्यान करता है वह उसीमे मिल जाता है।

परमेश्वर सनातन पुरुष है—कल था, आज है, कल भी वही रहेगा, उसका आदि-अन्त नहीं है। इस पवित्र-भाव से जिसके मन मे वह परम पुरुष बस जाता है उसके हृदय से वेदों की ध्वनि उठती है—

'स एव अद्य स उ श्व' वह ही है, था और रहेगा। मैं भी हूँ, उसके साथ था और उसके साथ रहूँगा। मेरा जीवन उसकी पूजा का एक साधन है। अत. जब तक जीवन है, उसकी साधना बनी रहेगी। यही—ओ३म् का भाव है। अनादि पुरुष+साधक और साधना—ध्येय, ध्याता, ध्यान—तीनों को एक करनेवाला 'ॐ' है।

'ओङ्कार' को आत्मसात् करने का भाव ब्रह्म के साथ एक रूप हो जाना है। ओ३म् से ही सोऽहम्=मैं वही हूँ का बोध होता है।

'ॐ' का उच्चारण करते-करते 'सोऽहम्' की ध्वनि उठने लगे और कार्य रूप में परिणत हो जाय, तब ब्रह्म के साथ एकता अथवा 'ॐ' को आत्मसात् हुआ जानना चाहिये।

२. परमेश्वर का ध्यान और स्मरण—

'ॐ' का उच्चारण और स्मरण करने से परमेश्वर का ध्यान होता है। ध्यान से होनेवाला अन्त सदा मुक्ति-दायक है।

परमेश्वर का स्मरण इतना होना चाहिये कि प्रत्येक चेष्टा, विचार, कर्म, वाणी, तन-मन, अंग-अंग और रोम-रोम में दैवी भाव भर जाय, किसी क्षण भी पुरुष, पुरुषोत्तम से अलग न हो सके। आग की भट्टी में रखा लोहा, लाल रहता है, आग से बाहर आते ही वह धीरे-धीरे काला पड़ जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर से अलग होते ही जीव पर साँसारिक प्रभाव पड़ने लगते हैं। सदा परमेश्वर का स्मरण करने से स्वभाव ऐसा दृढ़ हो जाता है कि उस पर संसार का कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। अतः जीवन में परमेश्वर के स्मरण की दिव्य-धारा निरन्तर बहनी चाहिये, अन्त भला बनाने का यही एक उपाय है।

परमेश्वर का नित्य-स्मरण निष्काम कर्म है। जीवनभर किये हुए सत्कर्म अन्तकाल में सामने आते हैं, जीवनभर की बनायी हुई सद्बुद्धि अन्तिम समय तक सधी रहती है। जीवनभर जगायी हुई अलख की ज्योति को बुझाने में मृत्यु भी समर्थ नहीं होती।

अतः जो जीवनभर की साधना के फलस्वरूप अन्त समय में 'ॐ' अथवा किसी भी दैवी स्वरूप का ध्यान करके शरीर छोड़ता है उसकी परमगति होती है।

जिसका अन्तःकरण आशा और विश्वास से भरा रहता है, जो परमेश्वर के अनुशासन में रहता है, परमेश्वर को साथ रखके व्यवहार करता है, उसके लिये परमेश्वर सदा सुलभ है—

१४

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थः नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

अनन्यचेताः, सततम्, यः, माम्, स्मरति, नित्यशः,
तस्य, अहम्, सुलभः, पार्थ, नित्ययुक्तस्य, योगिनः ।

पार्थ=हे पार्थ य =जो नित्यश =नित्य अनन्यचेता =अनन्य चित्त होकर, सततम=निरन्तर माम=मेरा, स्मरति=स्मरण करता है तस्य=उस नित्ययुक्तस्य=सदा युक्त रहनेवाले योगिन =योगी को, अहम=मैं सुलभ =सुलभ हो जाता हूँ ।

भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से ।
नित-युक्त योगी वह मुझे पाता सरल-सी रीति से ॥

अर्थ—हे पार्थ ! जो नित्य अनन्य चित्त होकर निरन्तर मेरा स्मरण करता है उस सदा युक्त रहनेवाले योगी को मैं सुलभ हो जाता हूँ ।

व्याख्या—सफलता हँसगामिनी है। वह धीरे-धीरे चलकर साधक के समीप आती है ।

विजय और सिद्धि के लिये साधना का सहारा छोडकर निषिद्ध कर्म करना नास्तिकता है। सफलता न पाकर निराश, दुःखी अथवा चिन्तित होना भी नास्तिकता है ।

प्रत्येक परिस्थिति मे परमेश्वर पर विश्वास रख कर उसका स्मरण करते हुए कर्तव्य-पालन करने का नाम आस्तिकता है ।

आस्तिकजन के लिये परमेश्वर सदा सुलभ होते हैं। परमेश्वर को प्राप्त करने के दो साधन हैं—

१—अनन्य चित्त होकर परमेश्वर का चिन्तन।

२—निरन्तर-स्मरण।

१. अनन्य-चित्त से—

अनन्यता, आस्तिकता की आधारशिला है। नास्तिक अनेकों का सहारा लेता है, आस्तिक एक का। नास्तिक में मेरा-तेरा, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्तीयता आदि का संकुचित भेद-भाव रहता है। आस्तिक अभेद-रूप से परमेश्वर की एकता और आत्म-तत्त्व का सर्वत्र दर्शन करता है।

संसार में प्रायः अन्य-भाव अधिक है। अपने पराये के भाव ने साँसारिक जीवन को दुःखी बना दिया है। यदि मनुष्य में अनन्य-भाव आजाय तो कोई पराया न रहे और छल-कपट, लूट, व्यभिचार आदि पाशविक कर्मों का स्वयं अन्त हो जाय।

किसी भी राज-नियम में मनुष्य को मनुष्य बनाने की शक्ति नहीं होती। कानून दण्ड दे सकता है, हृदय नहीं बदल सकता। हृदय केवल समाज अथवा परमेश्वर के भय से बदलता है। परमेश्वर का अनन्य-चिन्तन करनेवाला परमेश्वर को इसीलिये देख लेता है कि उसे परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता।

गोपियों का अनन्य-चिन्तन प्रसिद्ध है। उनकी एक ही रट थी—

ब्रह्म नहीं माया नहीं, नहीं जीव नहिं काल।
अपनी भी सुधि ना रहे, रहे एक नँदलाल॥

अनन्यता में श्याममयी सृष्टि का दर्शन होता है। अनन्य-भक्त के लिये सभी रूप परमेश्वर के होते हैं। वह कहता है—

'मै जहाँ देखता हूँ प्रियतम मेरा है।
आकाश तुल्य उसने जग को घेरा है॥'

परमेश्वर के विश्व-रूप का दर्शन अनन्यता से मिलता है।

२. निरन्तर-स्मरण—

स्मरण उसका होता है जिसका कोई आकार हो।

परमेश्वर ने मनन करने के लिये मन दिया, चिन्तन करने के लिये चित्त और ग्रहण करने के लिये बुद्धि दी है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को बल और सहारा देनेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन सबके द्वारा सुलभ होनेवाली वस्तु अथवा तत्त्व का स्मरण हो सकता है।

मनुष्य मे स्मरण जाग्रत रखने के लिये उपनिषदों ने दर्शन मनन आदि का सन्देश दिया है—

'आत्मा वा अर द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य ।'

दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान द्वारा आत्मा जानने योग्य है।

दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्मा अथवा परमात्मा का निरन्तर स्मरण और ज्ञान होता है।

परमेश्वर, अनुभव की दृष्टि से देखा जाता है। उसके किसी भी नाम रूप का निरन्तर स्मरण करने से अनुभव की दृष्टि मिलती है।

निरन्तर-स्मरण का अर्थ है—एक क्षण के लिये भी परमेश्वर से अलग न होना। स्मरण मे अन्तर आने से पुरुष और परमेश्वर में अन्तर आजाता है। पूजन-भजन के समय मन, बुद्धि और चित्त को अनन्य-भाव से परमेश्वर मे लगानेवाले को निरन्तर-स्मरण करने का अभ्यास हो जाता है।

१५

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

माम्, उपेत्य, पुनर्जन्म, दुःखालयम्, अशाश्वतम्,
न, आप्नुवन्ति, महात्मानः, संसिद्धिम्, परमाम्, गताः ।

माम्=मुझे, उपेत्य=पाकर, परमाम्=परम, संसिद्धिम=सिद्धि को, गताः=पाये हुए, महात्मानः=महात्माजन, दुःखालयम=दुःख के घर, अशाश्वतम्=नाशवान्, पुनर्जन्म=पुनर्जन्म को, न=नहीं, आप्नुवन्ति=पाते ।

पाए हुए हैं सिद्धि-उत्तम जो महात्मा-जन सभी ।
पाकर मुझे दुख-धाम नश्वर-जन्म नहिं पाते कभी ॥

अर्थ—मुझे पाकर परम सिद्धि को पाये हुए महात्माजन दुःख के घर नाशवान् पुनर्जन्म को नहीं पाते ।

व्याख्या—जीवन दुःखों का धाम है। प्रायः मनुष्य के पीछे कोई न कोई दुःख लगा रहता है। पूर्ण सुखी कोई नहीं है, जीवन में कुछ न कुछ अभाव रहता है। समुद्र की लहरों के समान जीवन में दुःखों की लहरें उठती हैं। त्रय-तापों की आग में जीवन धधकता है; रोग, दरिद्रता और मृत्यु का भय पीछा नहीं छोड़ता; विकार घेरे रहते हैं; भ्रम सिर पर सवार रहता है और काल डंके की चोट चुनौती देता है।

दुःखों का घर होने के साथ-साथ जीवन नाशवान् भी है—सदा रहनेवाला नहीं। आज जिसकी हँसी गूँज रही है कल उसका पता नहीं होगा।

माली आवत देखिके कलियाँ करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिये काल हमारी बार॥

ऐसे दुःखी और नश्वर-जीवन को भी सुखी और अमर बनाने का साधन गीता बताती है—

जो महात्माजन सिद्धि पागये हैं वे मुक्त हो जाते हैं।

अथवा

जिन्होंने मुझे प्राप्त कर लिया है, वे दुःख और विनाशमय जन्म से छूट जाते हैं।

दोनों बातों का रूप और फल एक ही है। सुख और सिद्धि स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेने का नाम परम गति है।

परम गति—

परम गति वही है जिसमें शान्ति की सत्ता संसार के कठोर क्लेशों द्वेषों और द्वन्द्वों का अन्त कर देती है, जहाँ पापों का विद्रोह दब जाता है, जहाँ मन रूपी निर्मल चन्द्रमा आनन्द और अमृत बरसाता है; जहाँ सदा प्रसन्न रहनेवाले सज्जनों का सत्सग होता है; जहाँ माता पिता, पत्नी पुत्र, बहन भाई, स्वामी सेवक सबमें परस्पर सद्भावना और सहयोग होता है और जहाँ सब प्रकार की कुशलता तथा प्रगति से जीवन विजयी एवं गौरवशाली बनकर पूर्णता की ओर निरन्तर चलता है।

परमेश्वर को पाकर पवित्र और सिद्ध हुए महात्माजन परमगति को प्राप्त कर लेते हैं।

महात्मा—

जप, तप, योग आदि साधनों की सफलता परमेश्वर को प्राप्त कर लेने में है। जो किसी प्रकार एक बार भी परमेश्वर तक पहुँच जाते हैं, वे महात्मा हो जाते हैं। उनका आत्मा अल्प नहीं रहता—पूर्ण में मिलकर पूर्ण हो जाता है। पूर्णात्मा अथवा महात्मा का हृदय विशाल होता है, अन्तःकरण पवित्र रहता है, मन उदारता के कर्म करता है, वाणी सत्य और ओजस्विनी होती है। आँखों में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के भाव छलकते हैं। महात्मा के जो मन में होता है, वही वचन में और वही कर्म में होता है।

महात्माजन अपनी मान-प्रतिष्ठा और पूजा की इच्छा नहीं करते। एषणा अथवा लोभ के लिये वे साम्प्रदायिक भेद नहीं फैलाते।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, स्त्री-पुरुष, बालक जिसका हृदय परमेश्वर की लीला का पवित्र धाम बन जाता है और जो मनसा, वाचा, कर्मणा परमेश्वर के लिये परमेश्वर के साथ रहकर कर्म करता है वही 'महात्मा' है।

ऐसे महात्माजनों का परित्राण परमेश्वर करता है। इस लोक में, परलोक में, जीवन में और मृत्यु होने पर महात्माजन सदा दुःखों से मुक्त रहते हैं। उनका जीवन और मरण दुःखमय नहीं होता।

परमेश्वर के साथ एक हो जानेवाले के लिये कहीं दुःख नहीं रहता। परमेश्वर को प्राप्त करना ही उत्तम सिद्धि है—

"साधन सिद्धि राम पग नेहू।"

इस लोक के और उस लोक के सुख-भोग और सम्पदा मिल जाने पर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता, परन्तु जिसे परमेश्वर मिल जाता है वह सब दुःखों से छूट जाता है।

१६

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

आब्रह्मभुवनात्, लोकाः, पुनरावर्तिनः, अर्जुन,
माम्, उपेत्य, तु, कौन्तेय, पुनर्जन्म, न, विद्यते ।

अर्जुन=हे अर्जुन, आब्रह्मभुवनात=ब्रह्मलोक तक, लोकाः=सारे लोक, पुनरावर्तिनः=पुनरावृत्ति वाले है, तु=परन्तु, माम=मुझको, उपेत्य=प्राप्त=होकर, पुनर्जन्म=फिर जन्म, न=नही विद्यते=होता ।

विधि लोक तक जाकर पुनः जन जन्म पाते हैं यहीं ।
पर पागये अर्जुन मुझे वे जन्म फिर पाते नहीं ॥

अर्थ- हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक सारे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं, परन्तु मुझको प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता ।

व्याख्या—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।' ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म रूप हो जाता है । उसके लिये कहीं आना-जाना नहीं है ।

गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में—

'जानत तुमहिं, तुमहिं हुइ जाई ।'

परमेश्वर को मानने और जानने का प्रत्यक्ष फल जीवन का सर्वतोमुखी विकास सुख और मुक्ति है । परमेश्वर के ज्ञान और दर्शन से सुख-दु.ख, स्वर्ग-नरक किसी का बन्धन नहीं रहता ।

संसार के कुछ विचारकों का मत है कि स्वर्ग और नरक दोनों इसी धरती पर हैं। मुक्ति और बन्धन जीवन में ही हैं। शुभ कर्मों से संसार स्वर्ग बन जाता है और अशुभ कर्म इसे नरक के समान दुःखदायी बना देते हैं। परिवार में सबका एक मत हो, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु में परस्पर पवित्र प्रेम हो, आज्ञाकारी सेवक हों, वस्तुओं का अभाव न हो, सदाचारपूर्ण संयमित जीवन हो, सुन्दर स्वास्थ्य हो, तीव्र बुद्धि हो, पवित्र मन हो, अनासक्त सात्त्विक कर्म हों, विद्या धन और बल हो तो जीवन सदा मुक्त है। जिसके लिये चारों पदार्थ सुलभ हैं वही जीवन्मुक्त है।

मर्त्यलोक से ब्रह्मलोक तक की सम्पूर्ण सम्पन्नता, सुख और ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले के लिये भी गिरने का भय रहता है परन्तु जो सब सुखों के स्रोत, ज्ञान, विभूति और ऐश्वर्य के स्वरूप सच्चिदानन्द सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परमेश्वर को प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये कहीं किसी भी दशा में ठोकर खाने अथवा गिरने का भय नहीं रहता।

गणित के प्रश्नों में योग करते हुए भूल होजाती है तो फिर से जोड़ आरम्भ किया जाता है। इसी प्रकार संसार के प्रश्नों में भूल होजाने से बार-बार दुःखों के योग देखने पड़ते हैं। परमेश्वर योगफल है। योगफल मिल जाने पर फिर संसार का जोड़ नहीं जोड़ना पड़ता।

एक पूर्ण पुरुष परमेश्वर के अतिरिक्त सब नश्वर हैं। नाशवान् पदार्थों में योग-वियोग लगा रहता है। पदार्थों में आसक्ति रखने से उनके लिये बार-बार आना-जाना पड़ता है। परमेश्वर सनातन पुरुष है, वह सदा एक रस है, उसकी शक्ति अनन्त है, एक बार उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् फिर मनुष्य को कहीं भटकना और आना-जाना नहीं पड़ता—

'मीरा के प्रभु हैं घट भीतर ना कहुँ आती जाती'

दूसरी विचारधारा के नर-नारी लोक-परलोक, पुनर्जन्म और मुक्ति को मानते हैं। मृत्युलोक मे जन्म लेकर वे ऐसा आचरण करना चाहते हैं जिससे फिर जन्म-मरण के चक्र मे न पडना पडे। ऐसे निष्ठावान् साधकों का मत है कि जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार पाताल लोक से ब्रह्म लोक तक, भू, भुव, स्व और पितरलोक, बृहस्पति लोक, प्रजापति लोक, वरुण लोक, कुबेर लोक, गन्धर्व लोक, इन्द्रलोक, सूर्यलोक और ब्रह्मलोक तक जाकर कर्मों के फल भोग कर फिर मृत्युलोक मे आता है, परन्तु परम पुरुष को प्राप्त कर लेने के पश्चात् जन्म नहीं लेना पडता।

मनुष्य-भाव से ऊपर इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देव-भाव और यज्ञ, तप आदि भावों से मिलनेवाले पद प्राप्त कर लेने पर भी भगवत्-प्राप्ति के बिना वासनामय शरीर को शान्ति नहीं मिलती।

ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्ममय आचरण या ब्रह्म-व्यवहार, ब्रह्म-दर्शन, ब्रह्म-बुद्धि द्वारा ब्रह्म-स्थिति तक पहुँचने से पहले जीव द्वन्द्वों के फन्दों मे फँसकर परमानन्द की स्थिति से गिर सकता है। ब्रह्मानन्द पाने पर भी ससार में लौट आने की सम्भावना रहती है, परन्तु जो परमानन्द को पा जाते हैं, अपने में विभु-शक्ति प्रगट कर लेते हैं और सर्वत्र उसका साक्षात्कार करते है, वे अपनी स्थिति मे अचल हो जाते है।

राजा जनक ब्रह्मानन्द मे निमग्न रहते थे। श्रीराम को देख कर परमानन्द मे स्थित हुए। परमेश्वर को पा लेनेवाला अचल परमानन्द मे प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस मन्त्र मे 'आब्रह्मभुवनाल्लोका' के दो प्रकार के अर्थ लगते है—ब्रह्मलोक तक और ब्रह्मलोक सहित। उपनिषदों का मत है कि ब्रह्मलोक में पहुँचकर नहीं लौटना पडता—

'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते ।'

(छान्दोग्य० ८।१५।१)

'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।'

(बृहदारण्य० ६।२।१५)

गीता को उपनिषदों का अर्थ भी मान्य है—'ब्रह्मलोक तक पहुँचा हुआ पुनर्जन्म पाता है, ब्रह्मलोक में पहुँचनेवाला नहीं ।'

ब्रह्मलोक से कल्प पर्यन्त पुनरावृत्ति नहीं होती । अन्यलोक पुनरावृत्तिवाले हैं—ब्रह्मलोक अनावृत्तिवाला है ।

पर ब्रह्मलोक का भी अन्त है, अनन्त तो एकमात्र परमेश्वर ही है । उसे पानेवाला ही पुनरावर्तन से छूटता है ।

पुण्यों की पूँजी समाप्त हो जाने पर ही आने-जाने, लौटने, गिरने और दुःख पाने की सम्भावना होती है, जो सुकृत करते-करते सब सुकृतों के स्वरूप परमेश्वर को पा लेते हैं, उनकी निधि कभी समाप्त नहीं होती ।

जिनके तन कठोर तपस्याओं से तप कर, सत्य को धारण करने योग्य नहीं बनते या मिट्टी के कच्चे घड़ों की भांति ठेस लगते ही टूट जाते हैं, वे परमेश्वर तक नहीं पहुँच पाते, बार-बार कष्ट उठाते हैं ।

योग-मार्ग के अनुसार ब्रह्मभुवन अथवा सत्यलोक सर्वोपरि है । सत्यलोक मनुष्य के सहस्रार में है । योगीजन योगबल से ध्यान की अवस्था में सत्यलोक तक पहुँच जाते हैं, परन्तु व्यवहार में यदि चैतन्य में चित्त लय नहीं होता तो सत्य से गिर जाते हैं । प्रकृति के आधीन हुआ जीव बार-बार सुख-दुःख में पड़ता है, परन्तु चैतन्य में मिल जानेवाला सर्वत्र आनन्द ब्रह्म में रहता है । व्यवहार में परमेश्वर आजाने पर ही मुक्ति होती है ।

सब प्रकार से परमेश्वर मे मिलने के प्रयत्नों से आनन्द और मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस दुस्तर ससार के कष्टों से पार करनेवाला एकमात्र परमेश्वर हे। श्री शकराचार्य ने हृदय से निवेदन किया है—

पुनरपि जनन पुनरपि मरणम पुनरपि जननीजठरे शयनम ।
इह ससारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे ॥
भजगोविन्द भजगोवि द गोवि द भज मूढमते ।

फिर फिर जन्म मरण है होता, मातृ उदर मे फिर फिर सोता।
दुस्तर भारी संसृति सागर, करो मुरारे पार कृपा कर॥
भज गोविन्द भज गोविन्द, गोविन्द भज मूढमते।

लोकों का ज्ञान मनोरजक भी है और गम्भीर भी। प्राय इहलोक और परलोक दो लोक माने जाते है। इन्हीं का वर्णन तीन प्रकार से है। भू, भुव और स्व। इनसे आगे चार लोक और है। मह, जन, तप और सत्यम्। इस प्रकार सात लोक प्रसिद्ध होगये— भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक।

पृथिवी भूलोक हे, अन्तरिक्ष भुवर्लोक है, स्व और मह स्वर्गलोक कहलाते है। जन, तप और सत्य को ब्रह्मलोक कहते है। इन सबसे परे कैवल्यपद है।

भूलोक मे मनुष्य निवास करते हैं। स्वर्गलोक मे सकल्पसिद्ध, ऐश्वर्यसम्पन्न देवजन निवास करते है। महर्लोक पूर्णकाम देवजनों का निवासस्थान हे जिसमे ध्यानमात्र से प्राप्ति और तृप्ति हो जाती है।

जन लोक को पहला ब्रह्मलोक कहते है, तप लोक को दूसरा ब्रह्मलोक कहते हैं और सत्यलोक को तीसरा तथा सर्वोपरि ब्रह्मलोक कहते हैं। ब्रह्मलोक में अच्युत, शुद्ध, सत्यशील, सुप्रतिष्ठित, नित्यमुक्त

जन निवास करते हैं।

आध्यात्मिक विज्ञान से ये सात लोक, सत्ता के सात रूपों के प्रतीक हैं—अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द, चित्त और सत्य। मनुष्य जब अपने विस्तृत, व्यवस्थित और पवित्र प्रयत्नों से निरन्तर बढ़ता है तब वह सत्यलोक या ब्रह्मलोक तक पहुँचता है।

मनुष्य में जब देवों का अवतरण होता है, देवता जब उसमें दिव्य निर्माण करते हैं और वह दिव्यरूप होकर सत, चित् एवं आनन्द में टिक जाता है—उस परमात्मा को प्राप्त कर लेता है तब उसे मुक्त कहा जाता है।

मानव प्राणी जिस अहंभावापन्न सत्ता में रहता है, उसमें अपूर्णता के साथ-साथ अनेक परिवर्तनों की भी सम्भावना बनी रहती है। जब वह अचल, महान, निर्विकार, निर्दोष, निर्हम् ब्रह्मसत्ता में टिकता है तब भी देहभाव में आवर्तन हो सकता है, परन्तु जब परमभाव, परमानन्द या परमपद में स्थिर हो जाता है, तब देहगत तम में नहीं लौटता। परमात्मा को पाने का अभिप्राय है—आत्म-स्वरूप लाभ करना, वासुदेव हो जाना।

यह साधारण साधना नहीं है। निरन्तर प्रयत्न करते-करते जो दिन-रात का सदुपयोग करना जान लेता है, वही परमात्मा को पा सकता है। जिस ब्रह्मा का दिन और रात सहस्रों युगों की विख्यात है वह भी परमेश्वर के आधीन है क्षण-भंगुर जीवनवाले मनुष्य की तो बात क्या?

अपने छोटे-से दिन और छोटी-सी रात में ही जीव सुख-दुःखों की तरङ्गों पर मारा-मारा फिरता है। दिन-रात को सुखमय बनाने के लिये हजारों युग तक योगयुक्त और प्रभु से संयुक्त होकर कर्म करनेवाले ब्रह्मा के दिन-रात की गति को समझना चाहिये—

१७

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

सहस्रयुगपर्यन्तम्, अहः, यत्, ब्रह्मणः, विदुः,
रात्रिम्, युगसहस्रान्ताम्, ते, अहोरात्रविदः, जनाः ।

सहस्रयुग पर्यन्तम=हजार युग तक, ब्रह्मण=ब्रह्मा का अहः=दिन, (और) युगसहस्रान्ताम्=हजार युग तक, रात्रिम्=रात्रि को, यत=जो, विदु=जानते है, ते=वे, जना=जन, अहोरात्रविद=दिन-रात्रि के जाननवाले है ।

दिन-रात ब्रह्मा की, सहस्रोंयुग बड़ी जो जानते ।
वे ही पुरुष दिन-रैन की गति ठीक हैं पहिचानते ॥

अर्थ—हजार युग तक ब्रह्मा का दिन और हजार युग तक रात्रि को जो जानते हं वे जन दिन-रात्रि के जाननेवाले हं ।

व्याख्या—वर्षाऋतु मे असंख्यों कीट-पतङ्ग उत्पन्न होते हैं और क्षणभर मे मर जाते है। मनुष्य के देखते-देखते छोटे-छोटे कृमियो का जीवन समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार देवताओं के देखते-देखते मनुष्यों की जीवन-लीला अनेकों बार पूर्ण होती है। इन्द्र आदि के सन्मुख देवताओं का जीवन कुछ अर्थ नहीं रखता। यहाँ तक कि जिसके सहस्रों वर्षों के दिन और रात है उस ब्रह्मा के जीवन का भी अन्त है। छोटे और बड़े सब किसी न किसी मर्यादा के बन्धन मे बँधे हुए है। अन्तर इतना ही है कि जो जितना महान् है, उसके जीवन का उतना ही अधिक मूल्य है।

मनुष्य योनि सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य ने मुक्तावस्था में ब्रह्मा तक के दिन और रातों को देख डाला है। गणितज्ञों ने गणना की है कि चारों युग—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग मिलकर जब एक हजार बार आते हैं, तब ब्रह्मा का एक दिन होता है।

सत्ययुग — १७,२८,००० वर्षों का।
त्रेतायुग — १२,९६,००० „ ।
द्वापरयुग — ८,६४,००० „ ।
कलियुग — ४,३२,००० „ ।

इस प्रकार चारों युगों को मिलाकर ४३,२०,०००, वर्षों की 'एक चतुर्युगी' होती है। एक हजार चतुर्युगी का ब्रह्मा का 'एक दिन' होता है और इतनी ही बड़ी रात।

ऐसे तीस दिन-रातों का एक महीना, बारह महीनों का एक वर्ष होता है। सौ वर्ष अर्थात् ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष की ब्रह्मा की आयु होती है। इतनी बड़ी आयुवाला ब्रह्मा भी पूर्ण पुरुष परमेश्वर के सम्मुख कोई महत्त्व नहीं रखता और उसके आश्रित रहता है।

ब्रह्मा के रात-दिन कर्म करने की अद्भुत सामर्थ्य को जाननेवाले अपने क्षणभंगुर दिन-रात, वर्ष और आयु का सदुपयोग करने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं। दिन और रात्रि को जानने का अभिप्राय है—उत्साह, धैर्य और महाभाव सहित निरन्तर कर्म करना।

ब्रह्मा परमात्मा की सृजन-शक्ति का नाम है जो संकेतमात्र से रचना और विनाश करती है। परमात्मा की ब्रह्म-कला को जानकर जो उसमें स्थित हो जाते हैं, उनपर नाशवान् उत्पत्ति और प्रलय का प्रभाव नहीं पड़ता, वे सच्चिदानन्दमय स्थिति से किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होते।

प्रत्येक परिवर्तन में विभु-शक्ति से युक्त रहकर जो दिन-रात सचेत रहते हैं उन्हें अहोरात्रविद् कहते हैं। उन्हें समय नहीं बाँध पाता। दिन और रात का रहस्य न जाननेवालों को जन्म-मरण के आधीन रहना पड़ता है—

१८

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

अव्यक्तात्, व्यक्तयः, सर्वाः, प्रभवन्ति, अहरागमे,
रात्र्यागमे, प्रलीयन्ते, तत्र, एव, अव्यक्तसंज्ञके ।

अहरागमे=दिन आनेपर, सर्वा=सब, व्यक्तय=व्यक्ति, अव्यक्तात्=अव्यक्त से, प्रभवन्ति=प्रकट होते है, (और) रात्र्यागमे=रात्रि के आने पर, तत्र=उसी, अव्यक्त संज्ञके=अव्यक्त-नामक ब्रह्मा में, एव=ही, प्रलीयन्ते=लीन होजाते हैं ।

जब हो दिवस अव्यक्त से सब व्यक्त होते हैं तभी ।
फिर रात्रि होते ही उसी अव्यक्त में लय हों सभी ॥

अर्थ — दिन आने पर सब व्यक्ति, अव्यक्त से प्रकट होते हैं और रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त नामक ब्रह्मा में लीन हो जाते हैं ।

व्याख्या—प्रकाश और अन्धेरे या दिन और रात को ठीक-ठीक समझनेवाले ही सत्य में स्थित होकर निजानन्द पाते हैं ।

जहाँ तक जो कुछ हम जानते और देखते हैं उसे सर्व कहते हैं। जो विषयों की दासता में रहते हैं या भोग भोगते हैं उन सबको विषय खा जाते हैं। जीव जब उद्देश्य-शून्य होकर लाचार रहता है, पराधीन होकर आता-जाता है तब उसका भोगकाल कहा जाता है। उद्देश्य-शून्य अवस्था प्रारब्ध भोग है। परमेश्वर को पाने से भोगों का अन्त हो जाता है और ऐसा योग सधता है जो बन्धन मुक्त कर देता है। जो बन्धन में हैं उन्हें अव्यक्त से बार-बार उत्पन्न होना पड़ता है।

जो कुछ है वह सब, दिन होते ही सूर्य की भांति अव्यक्त प्रकृति से प्रगट होता जाता है।

जब रात का अन्धेरा आता है तो सब प्रकृति में छुप जाता है।

यह जो कुछ है वह सब अव्यक्त से उत्पन्न होता है और कुछ काल व्यक्त रह कर फिर अव्यक्त में ही लीन हो जाता है। इसी कारण इस सबका सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता है।

'व्यक्त' प्रकट रूप को कहते हैं। मन और इन्द्रियों द्वारा जो कुछ देखा और जाना जाता है, वह 'व्यक्त' कहलाता है। ब्रह्मा के दिन में प्राणी व्यक्त हो जाते हैं।

'अव्यक्त' वह है, जो मन और इन्द्रियों से परे अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रगट होने से पहिले की स्थिति को 'अव्यक्त' कहते हैं। अव्यक्त—अक्षर ब्रह्म का भी नाम है।

मनुष्य कभी व्यक्त रूप में आता है और कभी अव्यक्त में मिल जाता है—यही उत्पत्ति और विनाश है।

श्री ज्ञानेश्वर ने अपने सारगर्भित शब्दों में कहा है—"शरत्काल के आरम्भ में मेघ जैसे आकाश में विलीन हो जाते हैं और ग्रीष्म ऋतु के अन्त में जैसे फिर प्रगट होते हैं वैसे ही ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में यह भूतसृष्टि का समुदाय प्रगट होकर हजार चतुर्युगी की अवधि पूर्ण होने तक बना रहता है। जब ब्रह्मा की रात्रि का समय आता है तब विश्व उस अव्यक्त में लीन हो जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रलय और उत्पत्ति इस ब्रह्मभुवन के दिन-रात में होती है। ....परन्तु इस ब्रह्मभुवन को भी अन्त में जन्म-मरण के चक्र में पड़ना ही पड़ता है।"

गुरु कृपा से जिसका ज्ञान व्यक्त हो जाता है और जो सर्वत्र प्रकाश में रहता है, वह सर्वज्ञ होकर अन्धेरे में नहीं पड़ता। इसके विपरीत जो भोगों के आधीन रहता है वह आत्मा में न रह कर अज्ञ बन कर अन्धेरे में विवशता से पड़ता रहता है।

१९

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

भूतग्रामः, सः, एव, अयम्, भूत्वाभूत्वा, प्रलीयते,
रात्र्यागमे, अवशः, पार्थ, प्रभवति, अहरागमे ।

पार्थ=हे पार्थ, स=वह, एव=ही, अयम्=यह, भूतग्रामः=भूतों का समुदाय, भूत्वाभूत्वा=उत्पन्न हो-हो कर, अवशः=विवश हुआ, रात्र्यागमे=रात्रि के आने पर, प्रलीयते=लय हो जाता है (और) अहरागमे=दिन होने पर, प्रभवति=उत्पन्न होता है ।

होता विवश सब भूत-गण उत्पन्न बारम्बार है ।
लय रात्रि में होता दिवस में जन्म लेता धार है ॥

अर्थ—हे पार्थ ! वह ही यह भूतों का समुदाय उत्पन्न हो-होकर विवश हुआ रात्रि के आने पर लय हो जाता है और दिन होने पर उत्पन्न होता है ।

व्याख्या—ग्राम उसे कहते हैं जिसमे प्राणी रहते हैं। शरीर पंच महाभूतों का ग्राम है। तत्त्वों के संगठन से यह सजीव रहता है, विघटन से निर्जीव हो जाता है, जब तक योग सधा रहता है तभी तक जीव स्वःवश होकर जीता है। कुयोग होने पर जीव मर-मर कर जीता है और वियोग होने पर वह परवश हो जाता है। परवशता वह रात्रि है जो प्राणियों को अपने में बन्द कर लेती है। स्वतन्त्रता वह दिन है जब शक्तियों सहित जीव प्रगट होता है।

सृष्टि, सर्वेश्वर परमेश्वर से उत्पन्न होती है, उस ही की महाशक्ति से बढ़ती है, जीवित रहती है और अन्त में उसी में विलीन हो जाती है। अनादिकाल से यही क्रम चल रहा है और जब तक जीव परमात्मा में नहीं मिल जाता तब तक जन्मना और मरना पड़ता है। यही जीव की विवशता है। जो विवश है वह जीव है जो स्ववश है वह परमात्मा है—

परवस जीव स्ववस भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥

मनुष्य स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी। कर्म करने में मनुष्य सदा स्वतन्त्र है, परन्तु कर्म-फल भोगने में परतन्त्र है। कामनाओं के पीछे दौड़नेवाला सदा पराधीन रहता है। कामनाओं को छोड़नेवाला ब्रह्मरूप सदा स्वाधीन रहता है।

कर्मासक्त जीव, विवश होकर कर्म करते हैं। जिसके पास जितनी पूँजी रात्रि को सोते समय होती है, प्रातःकाल उसे उतनी ही मिल जाती है। जैसे—सोने और जागने का क्रम चलता है, इसी प्रकार जन्म और मृत्यु का।

चल-चित्रपटों में विद्युत-शक्ति के सहारे नर-नारियों के छायाचित्र चलते-फिरते, बोलते-गाते और लड़ते हैं। अपने निर्माता और लेखक के संकेतों पर वे पराधीन होकर नाचते हैं। यही दशा जीव की है। जीवों का विधाता ब्रह्मा उन्हें कर्मानुसार नचाता है। ब्रह्मा को बनाने और बिगाड़नेवाला परमेश्वर है। उसकी सृष्टि में जो जितना बड़ा है, वह अपने से बड़े के आधीन रहता है—एकमात्र परमेश्वर सर्वोपरि और स्वतन्त्र है।

परमेश्वर की शक्ति अपार है—

२०

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

परः, तस्मात्, तु, भावः, अन्यः अव्यक्तः, अव्यक्तात्,
सनातनः, यः, सः, सर्वेषु, भूतेषु, नश्यत्सु, न, विनश्यति ।

तु=परन्तु, तस्मात्=उस, अव्यक्तात्=अव्यक्त से, पर=परे, य=जो,
अन्य=दूसरा सनातन=सनातन, अव्यक्त=अव्यक्त, भाव=भाव है,
स=वह, सर्वेषु=सब, भूतेषु=भूतों के नश्यत्सु=नष्ट होने पर भी,
न=नहीं, विनश्यति=नष्ट होता है ।

इससे परे फिर और ही अव्यक्त नित्य-पदार्थ है ।
सब जीव विनशे भी नहीं वह नष्ट होता पार्थ है ॥

अर्थ—परन्तु उस अव्यक्त से परे जो दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है, वह सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ।

व्याख्या—परमात्मा को मानने से आश्वासन मिलता है। परमात्मा को जानने से विश्वास जम जाता है, प्रेम उमड़ता है और प्रेम के लिये सब कुछ सहन करने मे आनन्द आता है। इतना ही नहीं, परमात्मा को जाननेवालों की क्रियाओं मे शान्ति, दृढ़ता और निर्भयता रहती है। परमात्मा को व्यक्त और अव्यक्त रूपों में जो देख लेता है, उसका सम्पूर्ण जीवन दिव्यसत्ता के सम्पर्क मे आकर दिव्य बन जाता है। वह सदा साक्षीस्थिति मे ठहरा रहता है।

जब प्राणी परमात्मा को अपने अन्दर काम करने देता है

तब परमात्मा उसकी दैहिक, मानसिक और प्राणिक क्रियाओं का केन्द्र बन जाता है।

परमात्मा को लक्ष्य बनाकर प्राणी जो कुछ करता है वह सब मुक्त-कर्म होता है। कर्म साधारण हो या असाधारण, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता—जो कर्म परमात्मा की चेतना में, भाव और प्रभाव में, प्रेरणा और प्रकाश पाकर किया जाता है, वही दिव्य कर्म है।

मनुष्य की शान्ति और मुक्ति का सहज और सरस साधन है—'दिव्य कर्मों में लगे रहना'। गीता ने जन्म, मरण, आवागमन और मुक्ति की जो निश्चित और स्पष्ट सनातन चर्चा की है उसका ध्येय यही है कि जीव उत्तमोत्तम कर्म करता-करता ब्रह्म तक पहुँच सके। उत्पत्ति में, लय में, व्यक्त रूप में, अव्यक्त रूप में, दिन में, रात में, अल्प आयु में, दीर्घ आयु में, किसी भी स्थिति और परिस्थिति में, जागते और सोते, प्रत्येक चेष्टा और कर्म करते हुए, परमात्मा के परम भाव में टिका रहे—यही मानव धर्म है।

परमात्मा को जो जितना जानता है वह उसके साथ रहकर उतना ही उत्तम कर्म कर सकता है। परमात्मा की जानकारी के लिये गीता ने निर्णय किया है—

१—व्यक्त और अव्यक्त से परे एक दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है।

२—सब भूतों के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता।

प्रजापति ब्रह्मा अव्यक्त रूप से सृष्टि की रचना करता है दिन में व्यक्त होनेवाले और रात में अव्यक्त होकर उस अव्यक्त में मिल जानेवाले लाचारी से संसार चक्र के साथ घूमा करते हैं। इस व्यक्त और अव्यक्त से परे सदा एक रस, एक रूप और एक परम भाव या

दिव्य भाव में रहनेवाला परमात्मा है। वह सबसे ऊपर है, सबका शासक और नियन्ता है।

व्यक्त में—होना, पाना, सोचना, शुद्ध बनना आदि का भाव रहता है। व्यक्त को अव्यक्त होना पड़ता है। व्यक्ति अन्तवान है। उसके कर्म भी व्यक्तिगत होते हैं। उसका व्यक्तित्व भी असीम में मिले बिना सीमित रहता है। अव्यक्तरूप से कर्म करने वाले का भी समय निश्चित है। वह भी काल के अधीन है।

सबसे परे सनातन परम भाव है। सनातन चिरन्तन है—ब्रह्म का भी ब्रह्म है। महा प्रलय के पश्चात भी उसका अभाव नहीं है। वह अखंड और अनन्त सत्य है। उसमे कोई परिवर्तन नहीं आता। वही सबकी अन्तिम गति है।

जो कुछ है—वह सब नश्वर है, सबका अन्त है परन्तु परमात्मा अनन्त है क्योंकि वह सत्य है। परमात्मा सर्वत्र है क्योंकि वह विभु है। वह यथार्थ है क्योंकि उसमे भ्रम नहीं है। उसमे अभाव नहीं है क्योंकि उसका भाव परम प्रेम, आनन्द और शक्ति से परिपूर्ण रहता है। वह शान्तिरूप है क्योंकि वह निश्चल और निश्छल रहकर निरन्तर अपने में स्थित रहता है।

व्यक्त और अव्यक्त दोनो उसमें समाये रहते हैं। वह न व्यक्त है और न अव्यक्त परन्तु अपने परम भाव में व्यक्त भी है और अव्यक्त भी।

परमात्मा को जानने का प्रयोजन इतना ही है कि उसके साथ रहकर मनुष्य सर्वथा-मुक्त हो सके। उसके प्रेममय, शक्तिमय और आनन्दमय दर्शन से परमगति पा सके—ऐसी परमगति जिसे पाकर फिर गिरना न पड़े—

२१

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः, तम्, आहुः, परमाम्, गतिम्, यम्, प्राप्य, न, निवर्तन्ते, तत्, धाम, परमम्, मम ।

अव्यक्तः=(जो) अव्यक्त, अक्षरः=अक्षर, इत्युक्तः=कहा गया है, तम्=उसको, परमाम्=परम, गतिम्=गति, आहुः=कहते हैं, यम्=जिसे, प्राप्य=पाकर, न=नहीं, निवर्तन्ते=लौटना पड़ता, तत्=वह, मम=मेरा, परमम्=परम, धाम=धाम है ।

कहते परम गति हैं जिसे अव्यक्त अक्षर नाम है ।
पाकर जिसे लौटें न फिर, मेरा वही पर धाम है ॥

अर्थ—जो अव्यक्त अक्षर कहा गया है, उसको परम गति कहते हैं, जिसे पाकर फिर लौटना नहीं पड़ता वह मेरा परम धाम है ।

व्याख्या—कहते हैं—कुछ करते रहने में जीवन है । पर सत्य यह है कि करते-करते जीव मर जाता है और जो करना चाहिये वह नहीं कर पाता । व्यर्थ-कर्म, अनुपयोगी और अयोग्य-कर्म बाँधते हैं । शक्ति और शान्ति उन्हीं कर्मों से घटती है जिन्हें हम लाचार होकर, मन मारकर और भार ढो-ढोकर करते हैं । मानसिक रोग, शारीरिक पतन, अनेक प्रकार के दुःख और क्लेश उसी समय चढ़ते हैं जब हमारी गति और मति परमेश्वर की ओर न रहकर क्षणभंगुर संसार की ओर हो जाती है ।

यह भी सत्य है कि प्राणिमात्र जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, दु:ख-दोष और पाप-ताप तथा द्वेष-क्लेश से छूटना चाहता है। बन्धनों से छूट कर मुक्त होने की अभिलाषा करनेवालों के लिये गीता ने परमगति की चर्चा की है—

परमगति के तीन महाभाव मननीय है—

१—अव्यक्त अक्षर को परमगति कहते हैं।

२—जिसे पाकर दु:खों के घर में नहीं लौटना पड़ता—वह परमगति है।

३—परमेश्वर का परमधाम परमगति है।

अव्यक्त अक्षर परमगति है—

कार्यरूप अव्यक्त और विश्वगत अव्यक्त भी जिस अन्य अव्यक्त भाव पर निर्भर रहता है वह परमात्मा का अव्यक्त सनातन भाव है।

इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महत्तत्त्व है, उससे परे अव्यक्त-प्रकृति और अव्यक्त प्रजापति है, उससे भी परे अव्यक्त परमात्मा है। इन्द्रियों, मन और बुद्धि के द्वारा जो कुछ प्रगट है, वह परमात्मा की रचना है। रचना मे जो रमा हुआ है वह अव्यक्त है। रचना नष्ट हो जाने पर भी अव्यक्त अक्षर ही रहता है।

मानव प्राणी में अव्यक्त और अक्षर की महाशक्ति है। वह दिखती नहीं, नष्ट भी नहीं होती। व्यक्त रूप से अपनी महाशक्ति को नष्ट करने के कर्म करनेवाला नष्ट हो जाता है। शुभ करने से अव्यक्त और अक्षर का महाभाव, रस, बल और आनन्द कभी अनुभव मे आता है और कभी प्रत्यक्ष हो जाता है। यह अक्षर अव्यक्त ही परमगति है।

प्रकृति और गुणों की आधीनता से प्राणी को कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। कर्म किये बिना कोई नहीं रह पाता पर कर्म की गति को जानना कठिन है।

निर्बलता और बल, अज्ञान और ज्ञान, दुःख और सुख में—मन से, बेमन से, लाचारी से किसी प्रकार चलते रहने को गति कहते हैं।

चलते रहने की क्रिया को गति कहते हैं। चलकर कहीं पहुँचने को भी गति कहते हैं। व्यक्त और अव्यक्त को भी गति कहते हैं। कर्मफल को भी गति कहते हैं।

गति, दुर्गति भी हो सकती है और सद्गति भी। न चलनेवाले की दुर्गति होती है। अशुभ की ओर चलनेवाले की भी दुर्गति होती है। अपनी त्रुटियों और न्यूनताओं का पोषण करनेवाले की भी दुर्गति होती है।

विचारपूर्वक शुभ की ओर चलनेवाले की सद्गति होती है। न्यूनता, निर्बलता, निकृष्टता और निष्क्रियता तथा पापों, तापों, दुरितों और विकारों को दूर करने के लिये साहस पूर्वक आगे बढ़ते जानेवाले की सद्गति होती है।

निरन्तर आगे बढ़ने को प्रगति कहते हैं। प्रगतिशील वही है जो सदा शुभ की ओर बढ़ता है और अपनी कमी, निर्बलता, अभाव तथा अपूर्णता को दूर करता है।

परमगति वह पाता है जो अव्यक्त और अक्षर की ओर जाता है। सत्य से परिपूर्ण होकर अपने को पूर्ण में मिलाता है।

परमात्मा में मिले बिना और परमात्मा से मिले बिना परमगति नहीं होती। जो उस अव्यक्त अक्षर परमदेव परमात्मा को जानता है उसी की परमगति होती है।

सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, परमेश्वर के प्राकृतिक और नैतिक नियमों को मानने मे नित्य परमगति है।

जिन कर्मों से जीवन की ज्योति नहीं बुझती, धर्म, यश, बल, त्याग, स्वास्थ्य, सम्पन्नता और प्रसन्नता की निरन्तर वृद्धि होती है, उन्हीं सत्कर्मों से परमगति रूप परमेश्वर मिलता है।

२. जिसे पाकर दुःखों के घर में नहीं लौटना पड़ता वह परमगति है।

परमेश्वर का सुख अनन्त और अपार है। परमानन्द की अधिकता नित्य नये-नये रूपों मे खुलती रहती है। जितना मिलता है उतना ही अधिक रस प्रेम और आनन्द उमड़ता है। परमात्मा सीमित होता तो उसका सुख भी सीमित हो जाता। सीमित सुख पुराना पड कर निस्तेज, शिथिल और उत्साह हीन हो जाता है। वह बढ़ता रहे और उसके लिये निरन्तर प्रगति होती रहे तभी नित्य नया आनन्द लेता हुआ प्रगतिशील व्यक्ति परमगति पाता है। जो पा जाता है वह गिरता नहीं, दुःखी नहीं होता, दुखों की ओर पीछे पैर नहीं रखता।

परमगति सदा सुखदायक है। दुखों मे वह पड़ता है जो कर्महीन रहकर प्रगति नहीं करता, जिसका विश्वास घटता है और ससार बढ़ता है। परमेश्वर का आधार छूटते ही दुखों के गर्त मे गिरना पडता है।

जो परमगति रूप परमेश्वर को पा लेता है वह दुखों की ओर वापिस नहीं लौटता। जहाँ टिकता है वहीं परमधाम पाता है या जहाँ पहुँचता है वहीं परमधाम बनाता है।

३. परमेश्वर का परमधाम परमगति है।

चलते-चलते परमगति तक पहुँचनेवाला परमेश्वर का परमधाम पाता है। अव्यक्त गति को पाना दुष्कर है (गीता १२।५)। परन्तु जिसकी परमगति हो जाती है वह परमेश्वर के परमधाम को व्यक्त कर लेता है।

परमधाम में सुख का सदावर्त लगा रहता है। वहाँ दुःख का नाम भी नहीं है क्योंकि कोई किसी को दुःख नहीं देता। वहाँ बुराई नहीं रहती क्योंकि कोई किसी की बुराई नहीं करता। वहाँ कर्म-बन्धन नहीं हैं क्योंकि सबके कर्म धर्मानुसार होते हैं। वहाँ परमभाव उमड़ता है क्योंकि कहीं दुर्भाव, कुप्रभाव और अभाव नहीं है। वहाँ उपासना स्वयं सधी रहती है क्योंकि कहीं वासना का स्थान नहीं है। वहाँ चित्त स्वयं शुद्ध रहता है क्योंकि दोष और विकार को कहीं आधार नहीं मिलता। वहाँ सदाचार स्वयं सधा रहता है क्योंकि दुराचार, पापाचार और भ्रष्टाचार का व्यवहार नहीं है।

परमधाम परमेश्वर का निवासस्थान है, आध्यात्मिकता का निधान है क्योंकि वह सत्य, सेवा, सद्भाव, संशुद्धि, सात्विकता और सदाचार का निर्माण है।

परमधाम में भगवान् नित्य लीला-विहार करते हैं। जहाँ भगवान मिलते हैं वह परमधाम है। भगवान् स्वयं परमधाम हैं। परमगति के ध्येय को, अमृत-फल को और स्वयं परमगति को परम-धाम कहते हैं। परमेश्वर में टिकने की अखण्ड अवस्था या अक्षर अवस्था का नाम भी परमधाम है।

परमधाम रूप परमेश्वर की प्राप्ति का उपाय गीता ने सर्वसुलभ कर दिया है—

२२

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

पुरुषः, सः, परः, पार्थ, भक्त्या, लभ्यः, तु, अनन्यया,
यस्य, अन्तःस्थानि, भूतानि, येन, सर्वम्, इदम्, ततम्।

पार्थ=हे पार्थ, यस्य=जिस परमेश्वर के, अन्तःस्थानि=अन्तर्गत, भूतानि=सब प्राणी है, तु=और, येन=जिससे, इदम्=यह, सर्वम्=सब जगत्, ततम्=परिपूर्ण है, सः=वह, परः=परम, पुरुषः=पुरुष, अनन्यया=अनन्य, भक्त्या=भक्ति से (ही) लभ्यः=प्राप्त होने योग्य है।

सब जीव जिसमें हैं सकल संसार जिससे व्याप्त है।
वह परपुरुष होता अनन्य सुभक्ति से ही प्राप्त है॥

अर्थ– हे पार्थ! जिस परमेश्वर के अन्तर्गत सब प्राणी है और जिससे यह सब जगत् परिपूर्ण है; वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है।

व्याख्या—परमधाम का भी धाम मनुष्य मे है। परमेश्वर मानव-देह मे बैठ कर परमगति प्रत्यक्ष करता है। पुरुष मे उस परम पुरुष का पुरुषत्व है। वही पुरुषार्थ की परम प्रेरणा देता है। वह परम है क्योंकि उससे परे कुछ नहीं है। वह पुरुष कहलाता है क्योंकि देहपुरी मे उसका निवास है। परम पुरुष शरीर में रहनेवाला परमात्मा है। उसे अन्तर्यामी भी कहते हैं।

सांख्यदर्शन के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि पुरुष और प्रकृति से है।

पुरुष प्रकृति का पति है। साधारण पुरुष या क्षर-पुरुष प्रकृति के आधीन रहता है। जो जीवात्मा रूप में है, कूटस्थ, साक्षी और अव्यक्त है, जिससे चराचर विश्व की रचना होती है, वह अक्षर-पुरुष कहलाता है। इन दोनों से परे परम पुरुष या उत्तम पुरुष परमात्मा है। वह नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरञ्जन और अलिप्त रहता है। इस मन्त्र में उसका वर्णन इस प्रकार है—

१—परम पुरुष के अन्तर्गत सब प्राणी हैं।

२—परम पुरुष से यह सब जगत् परिपूर्ण है।

परमेश्वर के विस्तार का पार नहीं है। वह विराट् है उसके अंग-अंग में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड लटकते हैं (विराट्-दर्शन गीता अध्याय ११ तथा रामचरितमानस लंकाकाण्ड—दोहा १४)।

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥

विश्व परमेश्वर का विराट् दर्शन है परन्तु वह इस सबसे बहुत परे है, बहुत बड़ा है—इतना बड़ा कि सबमें समाकर भी शेष रह जाता है। उस परम पुरुष का सूक्ष्म दर्शन करनेवाले जानते हैं कि कण-कण उससे परिपूर्ण है। एक ऋषि ने सूक्ष्म दृष्टि से देखकर कहा—

'पुरुष एव इदं सर्वम्'

यह सब वह परम पुरुष ही है।

उसमें सब हैं। वह सबमें है। जो देख लेता है वह जानता है और उससे दूर नहीं रहता (गीता अध्याय ६ मन्त्र ३०)।

सबमें व्याप्त, सबका आधार, प्रेरक और प्रकाशक परम पुरुष परमात्मा अहं का अन्त करके, सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर सर्वत्र समा जाने से मिलता है या वृहत्तम, महत्तम और विराट् होकर सबको

अपने में आश्रय देने से मिलता है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म=यह सब ब्रह्म है।

इस ज्ञान का लाभ उठाकर जो सबमें ब्रह्म-दर्शन करता है, सबके साथ ब्रह्म-व्यवहार करता है, और ब्रह्म प्रेम, ब्रह्म-शक्ति तथा ब्रह्मानन्द का रस लेता है वही उसे पाता है।

वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से मिलता है।

अपने परमधाम का अनन्त आनन्द प्राप्त कराने के लिये श्रीकृष्ण ने गीता मे स्थान-स्थान पर भक्ति को महायोग का साधन कहा है। बुद्धि की ज्ञानवृत्ति, मन की सकल्प शक्ति, प्राणों का जीवन-बल और जीव मे जो कुछ है वह सब जब परमात्मा के लिये होता है और परमात्मा को सौंप दिया जाता है तब प्रत्येक कर्म भक्ति बन जाता है (भक्ति का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय के दसवें मत्र मे देखिये)।

प्राय जीव का सारा ध्यान अपने तुच्छ व्यक्तिगत अहं के पोषण मे लगा रहता है। वह सुख खोजता है पर पाता नहीं। अपने तन, मन और बुद्धि का आश्रय लेकर वह जीवन मे सफलता पाने के प्रयत्न करता है पर परिस्थितियों से लडने और कठिनाइयों को पार करने मे ही जीवन बीत जाता है। अहं जब आत्मा मे लीन होता है तब भक्ति सधती है। तन, मन और बुद्धि जब परमात्मा के परमभाव मे जा मिलते है तब भक्ति की शक्ति प्रगट होने लगती है—परमात्मा का सरक्षण मिलता है, शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है और ऐसा आधार मिलता है जिस पर टिक कर भक्त निर्भयता से कठिनाइयों और जटिल सघर्षों को पार कर जाता है।

अनन्य भक्ति—

भक्ति मे जितनी अनन्यता होती है उतना ही आधार दृढ

रहता है, अनुभूतियाँ स्पष्ट होती हैं और आनन्द निश्चित हो जाता है।

अनन्यता प्रेम से मिलती है। प्रेम कहीं अटकता और भटकता नहीं—प्रियतम से सम्बन्ध जोड़ कर सीधा उसकी ओर चलता है और उसमें मिलकर रहता है।

परमेश्वर को अपना सर्वस्व मानकर और जानकर हृदय की पवित्रता से उसकी उपासना में लगे रहने को अनन्य भक्ति कहते हैं। कर्म करते हुए परमेश्वर के विमुख न जाना और उसे किसी भी परिस्थिति में न भूलना अनन्य भक्ति है। एकमात्र उसीका आश्रय लिये रहना, उसीमें मन और बुद्धि को लगाना, उसीके लिये कर्म करना, उसीके लिये मरना और जीना अनन्य भक्ति है। अन्य कोई नहीं है, जो है वह अपना प्रियतम परमेश्वर है—उसके सामने रहना, उसे सामने रखना, उसकी प्रसन्नता के लिये सब कुछ करना—यही अनन्यता का भाव है।

भक्ति-दर्शन में अनन्यता की परिभाषा है—

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता। (भक्तिसूत्र १०)

अन्य आश्रयों का त्याग अनन्यता है।

अन्य कोई न रहे या अन्य किसी को न माना जाय, सीधे शब्दों में सर्वत्र परमात्मा का दर्शन हो, मन, बुद्धि, चित्त और अहं परमात्मा में विलीन हो जाय, देह और प्राणों का बल परमात्मा रहे तब अनन्यता कही जाती है।

अन्य वह है जो परमात्मा से भिन्न हो, जिससे परमात्मा का भाव विभक्त होता हो। जब कोई विभक्ति नहीं रहती तब भक्ति की साधना होती है। दुरित, विकार, अन्धकार, अहंकार, कुवासनाएँ, दूसरों का आश्रय जब तक रहता है तब तक अनन्यता नहीं होती।

अनन्य वह है जो अपने प्रेमास्पद से सदा संयुक्त रहता है। शिष्य, शरणागत, उपासक और भक्त वही है जो गुरु भगवान् को साथ रखता है। यह साधना किसी परिस्थिति और आवश्यकता से खण्डित नहीं होनी चाहिये। अपने भगवान का प्रेम प्रतिपल अधिकाधिक प्रकाशमान् होना चाहिये। सहारा, शक्ति, संरक्षक, संवर्द्धक, संयोजक और सर्वस्व केवल प्रभु का प्रेम हो, उसीसे नित्य नया आनन्द मिले तभी अनन्यता कही जाती है।

अनन्यता अग्नि परीक्षाओं को शीतल कर देती है, कठिनाइयों को सरल और गरल को सुधा, क्योंकि वह सदा अप्रभावित रहती है—अछूती और अलिप्त, अविकारी और अभंग, अभ्रान्त और अभिजात, अविरल और अवेध, अभेद और अनन्त।

मानव की एक विशेषता यह है कि वह अपने को जहाँ जमा देता है या जहाँ एकाग्र हो जाता है वहाँ निश्चित सफलता पाता है। वह दुसाध्य को साध सकता है, असम्भव को सम्भव कर लेता है। एकाग्रता में मानव-शक्ति की कोई सीमा नहीं रहती, क्योंकि वह असीम से समन्वित हो जाती है। चाहे मानव तप का मार्ग ग्रहण करे या प्रेम का दोनों ही मार्गों में उसकी तीनों शक्तियों का—ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति और इच्छा-शक्ति का अद्भुत विकास होता है—एकाग्र होने की शर्त है। एकाग्रता और अनन्यता में केवल इतना अन्तर है कि एकाग्रता बारी-बारी से अनेक विषयों और साधनों में हो सकती है, एकाग्रता के विषय बदल सकते हैं पर अनन्यता केवल एक ही के लिये होती है। एक को चुनकर उसे अपना सर्वस्व जानकर और मानकर एकाग्र होने का नाम अनन्यता है। साँसारिक सफलता के लिये—कला, विज्ञान, विद्याध्ययन आदि के लिये एकाग्रता पर्याप्त

है, पर आत्मा या परमात्मा को पाने के लिये अनन्यता आवश्यक है। अनन्यता यह नहीं जानती कि क्या करना चाहिये वह इतना जानती है कि क्या होना चाहिये। अनन्यता, शक्ति और साधनों से अधिक महत्त्व शक्तिमान् और साध्य को देती है। उलझनों, परिस्थितियों, कठिनाइयों, बाधाओं और विरोधों से अनन्यता कभी नहीं दबती, वह तो निरन्तर अपने अन्तिम ध्येय रूप परम प्रेमास्पद में टिकी और मिली रहती है।

कर्म में अनन्यता आने पर वह बन्धन न रहकर कर्मयोग बन जाता है। अनन्यमनाः अथवा अनन्यचेताः होकर किये गये कर्म में सफलता मिलती है। मन उपस्थित रहना चाहिये—चेतना और एकाग्रता होनी चाहिये तभी अनन्यता सधती है। अनन्यभाक् अथवा एकनिष्ठ होना भी अनन्य-भक्ति की शर्त है। जिसमें जुड़े या जुटे उसमें अनन्य-योग होने से साधना शीघ्र ही पूर्ण और सिद्ध हो जाती है।

ज्ञान में अनन्यता आने पर वह भौतिक न रह कर आध्यात्मिक विभु-कला से सम्पन्न ज्ञानयोग बन जाता है। भक्ति में अनन्यता आने पर वह कृष्ण-कला-संसिद्ध भक्तियोग बन जाती है—

यथा व्रजगोपिकानाम्=जैसी व्रजगोपिकाओं की।

(नारद भक्तिसूत्र २१)

परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करना जब जीवन का एकमात्र ध्येय बन जाता है, उसके बिना जीवन निस्सार जान पड़ता है और उसे पाने के लिये ही मनुष्य के सारे प्रयत्न होते हैं तब वह मिले बिना नहीं रहता। प्रभु का मिलन अमृत-योग है, सच्चा जीवन है; उसका बिछुड़न मृत्युभोग है, पराधीन जन्म है।

जीवन और मृत्यु का दर्शन इस प्रकार है—

२३

यत्रकाले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

यत्र, काले, तु, अनावृत्तिम्, आवृत्तिम्, च, एव, योगिनः,
प्रयाताः, यान्ति, तम्, कालम्, वक्ष्यामि, भरतर्षभ ।

तु=और, भरतर्षभ=हे भरतर्षभ, यत्र=जिस, काले=काल में, प्रयाता=शरीर त्यागकर गये हुए, योगिन=योगीजन, अनावृत्तिम्=पुनरावृत्ति को नहीं (पाते), च=और, आवृत्तिम्=पुनरावृत्ति को, यान्ति=पाते है, तम्=उस, कालम्=मार्ग को, एव=भी, वक्ष्यामि=कहूँगा ।

वह काल सुन, तन त्याग जिसमें लौटते योगी नहीं ।
वह भी कहूँगा काल जब मर लौटकर आते यहीं ॥

अर्थ—और हे भरतर्षभ ! जिस काल में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन पुनरावृत्ति को नहीं पाते और पुनरावृत्ति को पाते है, उस मार्ग को भी कहूँगा ।

व्याख्या—अनन्य मन से चिन्तन करनेवाला भक्त परम धाम के मार्ग को देखता है, उस पर चलता है, उसकी व्यापकता के साथ संयुक्त हो जाता है—हृदय-हृदय मे, घट-घट मे, कण-कण मे रमकर, जमकर या व्याप्त होकर परमगति पाता है ।

तन, मन, वचन और बुद्धि से भक्त विश्व व्यापक तत्त्व के साथ अखण्ड सम्बन्ध जोड़े रहता है, उसके स्वर में स्वर मिलाकर सतत् जीवन-गान गाता है, और उस परम पुरुष की ज्योति, शक्ति, मधुरता

तथा सुन्दरता का रसपान करता हुआ परमानन्द प्रगट कर लेता है।

इस मार्ग पर चलनेवाला ऊपर ही ऊपर उठता है। महाशक्तियों का बल पाकर वह निरन्तर चलता है, ज्योतियाँ उसे मार्ग दिखाती हैं—यह सर्वोत्तम, सरल, सीधा, शान्त और पुष्ट भक्ति का मार्ग है। इस मार्ग पर मानव के कर्म सत्य की सत्ता के प्रति स्वयं समर्पित रहते हैं क्योंकि मन की कामनाएँ परमात्मा के प्रेम और आनन्द से युक्त रहकर मुक्त हो जाती हैं।

परमधाम के इस ऊर्ध्वगामी भागवत मार्ग से भिन्न और भी मार्ग हैं, जो घूम फिर कर वहीं आ जाते हैं जहाँ से जीव चलता है। वे भूलों या अन्धेरे के मार्ग बन्धन और मृत्यु के मार्ग कहे जाते हैं।

गीता अपनी रहस्यमयी वाणी में दो विभिन्न कालों का वर्णन करती है। काल शब्द का अर्थ गम्भीर एवं मननीय है। काल की गति कठोर है। काल सबके आगे पीछे है। काल ही वर्तमान को बनाता-बिगाड़ता है। जो कुछ है वह सब काल के आधीन है। काल सबको देखता है, उसकी आँखें कभी बन्द नहीं होतीं। काल अपने रथ पर बैठा कर प्राणीमात्र को चलाता है। ऐसा कुछ नहीं है जो काल की कीली पर न घूमता हो। कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् शक्ति काल की ही है। उत्क्रान्ति (Evolution) या विकास काल का ही रूप है। काल नित्य नया रहता है, बदलता चलता है। उदय, क्षय, सृष्टि और संहार काल-परिवर्तन का खेल है। काल विशाल मानव को ज्ञान-विज्ञान में नियुक्त करता है और काल ही विकराल रूप से महत् योग को नष्ट कर देता है (अध्याय ४ श्लोक २)।

काल ही मार्ग है। योगियों का मार्ग अनावृत्ति वाला है और भोगियों का मार्ग पुनरावृत्ति वाला है। योगियों का काल परमगति तक पहुँचाता है और भोगियों का काल बार-बार गिराता है—

२४

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

अग्नि, ज्योतिः, अहः, शुक्लः, षण्मासाः, उत्तरायणम्,
तत्र, प्रयाताः, गच्छन्ति, ब्रह्म, ब्रह्मविदः, जनाः ।

अग्नि=अग्नि, ज्योति=ज्योति, अह=दिन, शुक्ल=शुक्लपक्ष, उत्तरायणम्=उत्तरायण के, षण्मासा=छः मास के, तत्र=उस मार्ग मे, प्रयाता=गये हुए, ब्रह्मविदः=ब्रह्मवेत्ता, जना=जन, ब्रह्म=ब्रह्म को, गच्छन्ति=प्राप्त होते है।

दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्लपख, षट् उत्तरायण मास में ।
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी, ब्रह्म ही के पास में ॥

अर्थ—अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छः मास के उस मार्ग में गये हुए ब्रह्मवेत्ता जन ब्रह्म को प्राप्त होते है।

व्याख्या—शब्दों का विज्ञान जाननेवाले रूढ़िवादी अर्थों के बन्धन से मुक्त रहते हैं। वैदिक साहित्य में ऐसे शब्द है, जिनका रहस्य निरन्तर स्वाध्याय और अर्थ के विकास से खुलता है। अध्यात्म-विद्या के शास्त्रों मे प्राय. गम्भीर और रहस्यपूर्ण अनुभवों को व्यक्त करने के लिये विलक्षण व्यञ्जना-प्रधान शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अग्नि—

अग्नि, यज्ञ का चिह्न है। अग्नि की उपासना से वेदों का प्रारम्भ हुआ है। वेदों में सबसे पहिले अग्नि फिर इन्द्र और उसके पश्चात् अन्य देवता आते हैं।

अग्नि के सूत्र में जो ऋचायें हैं उनमें पारिभाषिक शब्दों की एक माला है जिनका अत्यन्त स्पष्ट आध्यात्मिक आशय है।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ७७ में अग्नि की स्तुति की गयी है—

कथा दाशेमाग्नये कास्यं देवजुष्टोच्यते भामिने गीः।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत् कृणोति देवान् ॥१॥

कैसे अग्नि को हम हवि दें? ज्वाला के अधिपति अग्नि को क्या कहकर सम्बोधन करें? जो अग्नि, देवों को विरचित कर देता है, मर्त्यों में अमर है, सत्य से युक्त है, यज्ञ का साधक है उसे क्या कहें?

अग्निदेवता रहस्यमय और परम तेजोमय है, वह सत्य का संरक्षक है, महान् और गम्भीर कार्यों से उसका सम्बन्ध है।

वेदों की अग्नि केवल कर्मकाण्डियों की अग्नि नहीं है और न वह केवल भौतिक ज्वाला, ताप और प्रकाश का ही तत्त्व है। वेदों में अग्नि शब्द—शक्ति और प्रकाश के लिये प्रयोग में लाया गया है। अग्नि को देवताओं ने मनुष्यों में अमृत रूप से स्थापित किया है। मनुष्य में रहकर अग्नि, दिव्य शक्ति से उसे सजीव रखती है।

परमेश्वर वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के ग्रहण किये हुए अन्न और मल को भस्म करता है।

अग्नि, दिव्य संकल्प है, जो विश्व को चेतना से भरे हुए है। वह पवित्र कर्ता है, भक्षक है, जीवन की उष्णता है, वस्तुओं में रस,

आनन्द और सार उत्पन्न करनेवाला है। अग्नि क्रियाशील जीवन-शक्ति है। वह सदा ऊपर की ओर उठता है, मरुतों (मन की शक्तियों) को बल देता है। मनोविकार इसी अग्नि के धुएँ बनकर उठते हैं। वात-शक्तियाँ अग्नि का बल पाकर कार्य करती है। ज्ञान, बल और आनन्द तीनों महाशक्तियों को देनेवाला अग्नि है। अग्नि, मर्त्य को सचेतन रखता है।

अग्नि के काल मे—अग्नि के मार्ग मे शरीर छोडनेवाला मुक्त होता है। वह कर्म करते-करते शरीर छोड़ता है, अन्त समय तक उसके यज्ञ रूप शुभ कर्म और शुभ संकल्प होते रहते हैं, पवित्रता बनी रहती है, आनन्द तिरोहित नहीं होता, ज्ञान और बल मे शिथिलता नहीं आती, अमृत और सजीवन-शक्ति के कुण्ड भरे रहते हैं।

ऐसे समय की मृत्यु अथवा ऐसे मार्ग मे मृत्यु, जीवन का अभिषेक करने आती है और मुक्ति का मुकुट पहनाती है।

ज्योति—

अग्नि जैसे कर्म, शक्ति, ज्ञान और सत्य का चिह्न है, उसी प्रकार ज्योति, मन और विचारों के आलोक की उज्ज्वल मूर्ति है। उसके प्रकाश मे कहीं धुँधलापन नहीं है, वह भीतर और बाहर सर्वत्र दिव्य प्रकाश करती है, तमोग्रस्त मानसिक अवस्था, भ्रान्ति, संशय और दनाओं का उन्मूलन करके प्रकाशमान रहती है और बृहत् तथा उज्ज्वल अभिव्यक्ति देती है। ज्योति को न बुझने देना ही निष्पाप रहना है।

ज्ञान की ज्योति, जीवन की ज्योति और ब्रह्म की ज्योति की अविचल-अवस्था मे आनेवाली मृत्यु दिव्य जीवन का प्रमाण-पत्र देती है।

दिन—

दिन, जागरण का प्रतीक है। रात्रि में जीव सोते हैं; ब्रह्मा की रात्रि में अव्यक्त हो जाते हैं, दिन है जिसमें मनुष्य का व्यक्तित्व उभरा रहता है और वह सावधान तथा जागरूक रहता है।

परमार्थी और प्रपञ्चों से दूर रहनेवाले ही जागरणशील कहे जाते हैं—

जानिय तवहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय विहाय विरागा॥

जाग्रत अवस्था में जीवन का अन्त, अनन्त में मिलने के लिये होता है। सावधान और जागरूक की मृत्यु सीमा को तोड़कर असीम में मिल जाने के लिये आती है।

शुक्ल—

शुक्लपक्ष निरन्तर विकास का प्रतीक है। मनुष्य आज जहाँ है कल उसे उससे आगे बढ़ जाना चाहिये। प्रगति, जीवन का चिह्न है। शुक्लपक्ष में जिस प्रकार चन्द्र पूर्णता की ओर चलता है, इसी प्रकार जीवन की पवित्रता, शीलता और जीवनी शक्ति निरन्तर पूर्णता की ओर प्रगति करती हुई होनी चाहिये।

उन्नति करता हुआ मरनेवाला पूर्ण पुरुष में मिल जाता है।

उत्तरायण के छः मास—

सूर्य तेजस्वी देवता है, अंधकार की सीमाओं को छिन्न-भिन्न करनेवाला है, और चराचर को जीवन देता है। वह जागृत ज्योतियों का पुञ्ज है। देवताओं ने अंधकार के पाशविक बल से आच्छादित मनुष्य के लिये सूर्य को चमकाया है।

सूर्य के प्रकाश से जीवन, सचेतन और चमकीला होता है।

सूर्य, कर्मशीलता और वृद्धि का देवता है। आलोक प्रदाता और पुष्टिदायक सूर्य अपनी किरणों से धुंधली मानसिक अवस्था को और भ्रांत विचारो को उसी प्रकार निर्मल कर देता है, जिस प्रकार मलिन अभ्राच्छादित आकाश को। सूर्य, दिव्य-ज्योति को देनेवाला महाबल और अनासक्त कर्मयोग का प्रतीक है।

सूर्य छ महीने उत्तरायण और छ महीने दक्षिणायन मे प्रगति करता है। उत्तरायण का सूर्य अपनी अमृतमयी बलिष्ठ किरणों से जीवन को अधिक मङ्गलमय स्फूर्तिमान् पराक्रमी और उत्साही बनाता है। 'सौरज्योति' (स्वर्लोक) का द्वार उत्तरायण के सूर्य मे खुलता है।

'स्व' वह महालोक है, जिसे सुकृतजन प्राप्त करते हैं।

स्व—आनन्द का लोक है। उन सब सात्त्विक ऐश्वर्यों से भरपूर है, जो महर्षियों के लिये उपयुक्त है।

बल, विक्रम, सन्तान, गौ, अश्व आदि से सम्पन्न ऐश्वर्य और स्वस्ति स्वर्लोक की सम्पत्ति है। निर्मल, विशुद्ध भावनाओं के आकाश मे, आसक्ति और अधकार से मुक्तावस्था मे शरीर छोडनेवाला मगल मार्ग से जाकर स्वर्लोक प्राप्त करता है अथवा मुक्त होता है।

अपनी आलङ्कारिक और रहस्यमयी भाषा मे गीता ने कर्मयोगियों के लिये मुक्ति के मार्ग का निरूपण किया है।

१—जो कर्म करते-करते ज्ञान, चेतना और आनन्द की अवस्था मे शरीर छोड़ते है, वे ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

२—उज्ज्वल ज्योतिर्मय रहते-रहते यज्ञ-ज्योति से प्रकाशमान ज्वलन्त मार्ग मे और प्रतिभावान अवस्था मे जिनके प्राण प्रयाण करते है, वे मुक्त हो जाते हैं।

३—जो परमार्थी प्रपञ्चों से दूर जागरणशील रहते हुए मृत्यु

का आलिङ्गन करते हैं, वे ब्रह्म में मिल जाते हैं।

४—निरन्तर उन्नति करते हुए पूर्णता की ओर बढ़नेवाले प्रगतिशील और पवित्रभावों का विकास करनेवाले पुरुष, शरीर छोड़कर, ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

५—निर्मल विशुद्ध और माङ्गलिक मार्ग में—अनासक्त, निर्भय, निर्द्वन्द्व और निरामय होकर शरीर छोड़नेवाले ब्रह्म-रूप हो जाते हैं।

ज्ञानी, भक्त अथवा योगी अपने योग-बल से आनन्द, ज्ञान और शक्ति की अवस्था में मुक्ति-मार्ग पर ही शरीर छोड़ते हैं। भीष्मपितामह ने छः महीने शर-शय्या पर पड़े-पड़े उत्तरायण के सूर्य की प्रतीक्षा की थी।

भीष्म चाहे अपने मन को पवित्र कर रहे हों, कौरवों के कुसंग के दोष को दूर कर रहे हों अथवा तप द्वारा मन को स्थिर करके ब्रह्म का साक्षात्कार करने के प्रयत्न में हों अथवा कौरवों के दूषित-अन्न को रक्त से निकालकर कोष-शुद्धि कर रहे हों, उनकी कथा उत्तरायण के सूर्य के साथ प्रसिद्ध है।

उपनिषदों के ऋषियों ने इस सत्य का साक्षात्कार किया है कि जो मन, वचन और कर्म से ब्रह्ममय आचरण करते हैं, जिनके ज्ञान के नेत्र, इन्द्र के समान निर्विकार और दूर तक देखनेवाले हैं, जो कर्मों से परमेश्वर की पूजा करते हैं; उन्हें ब्रह्म-प्राप्ति के लिये कहीं नहीं जाना पड़ता और न मृत्यु की बाट देखनी पड़ती—वे सदैव ब्रह्मरूप हैं।

ज्ञान की अवस्था में कर्म करते हुए भगवत्परायण होकर शरीर छोड़नेवाले को और जीवित रहनेवाले को गीता ने नित्य मुक्त माना है। जिनमें कर्म, भक्ति और ज्ञान का योग नहीं है, वे जीवन में भी दुःखी रहते हैं और मरकर भी जन्म-मरण के दुःख में पड़ते हैं।

२५

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

धूमः, रात्रिः, तथा, कृष्णः, षण्मासाः, दक्षिणायनम्, तत्र, चान्द्रमसम्, ज्योतिः, योगी, प्राप्य, निवर्तते ।

धूमः=धूम, रात्रि=रात्रि, कृष्ण=कृष्णपक्ष, तथा=तथा, षण्मासा=छ महीने, दक्षिणायनम्=दक्षिणायनके, तत्र=उसमे, (गया हुआ) योगी=योगी, चान्द्रमसम्=चन्द्रमा की, ज्योति=ज्योति को, प्राप्य=प्राप्त होकर, निवर्तते=लौट आता है ।

निशि, धूम्र में मर कृष्ण पक्ष, षट् दक्षिणायन मास में ।
नर चन्द्रलोक विशाल में रम फिर फँसे भव-त्रास में ॥

अर्थ—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा छः महीने दक्षिणायन के, उसमें (गया हुआ) योगी चन्द्रमा को ज्योति को प्राप्त होकर लौट आता है ।

व्याख्या अग्नि, ज्योति, दिन आदि के सात्विक देवताओं के अधिकार मे, समय, स्वास्थ्य, शुभसङ्कल्प, सत्य, सावधानी, शौर्य सबके सुयोग मे स्वेच्छा से शरीर छोड़नेवाला योगी ब्रह्मरूप कहा गया है, वह नित्य मुक्त है ।

दूसरी श्रेणी का योगी वह है जो जीवन मे पुण्य-कर्म करता है, भगवत्प्राप्ति के प्रयत्नों मे लगा रहता है, परन्तु कामनाओं को भी थपकता है और अन्तिम समय भी किसी वासना, कामना अथवा

इच्छा के मेघ जिसके बुद्धि-गगन को धुँधला कर देते हैं अथवा वात, पित्त, कफ आदि जिसकी अग्नि को ठण्डा करके रोगों का धुआँ उठाते हैं।

धुआँ, अंधेरा, असत्य आदि मृत्यु के उपलक्षण हैं। जीवन की कुशलता और सफलता अंधेरे से हटकर प्रकाश में रहने में है।

अँधेरे का मार्ग, मृत्यु का मार्ग है। अनृत (असत्य) पाप, सुरा, स्वार्थ, तामसी भाव सब अंधेरे में रहते हैं। उपनिषद् के ऋषि ने अंधेरे को देखकर कहा था—

"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।"

अज्ञान अविद्या के उन्मुख जो होते।
वे अन्धकार में अपना जीवन खोते॥

धूम-मार्ग—

धुएँ के मार्ग में सब धुँधला पड़ जाता है, दृष्टि स्पष्ट देखने योग्य नहीं रहती, बुद्धि की प्रभा मन्द पड़ जाती है। ज्ञान और शक्ति की अग्नि को रोग, विकार, असत्य और अज्ञान का धुआँ ढक लेता है।

धुआँ केवल भौतिक प्रकाश को ही नहीं वरन् आध्यात्मिक प्रकाश, सत्य और शिव-संकल्पों को भी ज्योतिर्मय नहीं होने देता।

मनुष्य दिव्य आनन्द और अमृत का घट है। तप, ज्ञान और अनुभव की अग्नि में पककर वह अमृतरस धारण करने योग्य हो जाता है—

'शृतास इद् वहन्तः तत् समाशत।'

जो अग्नि में पक चुके हैं, वे ही दिव्य आनन्द, सोमरस अथवा अमृत को धारण करने योग्य होते हैं और उसका रसास्वादन करते हैं। उनके शरीर में दिव्य जीवन का रस प्रवाहित होने लगता है।

जिनका घड़ा धुएँ में पड़कर कच्चा रहता है, जिनका शरीर

कष्ट-सहन, तप, पवित्रता और ज्ञान द्वारा तप्त नहीं होता, उन धुएँ में रहनेवालों को दिव्य आनन्द, मुक्ति अथवा अमृत नहीं मिलता।

'अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते।'

धुआँ कच्ची अग्नि से ही उठता है वह अधूरेपन का चिह्न है।

रात्रि—

सोये हुए के लिये सदा रात्रि है। रात्रि, मोह-निशा को कहते हैं।

"मोह निसाँ सबु सोवन हारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥"

मोह-माया की रात्रि में वासनामय-स्वप्नों, विकारों और नींद से घिरा हुआ मनुष्य, मुक्ति के मंगल-मार्ग तक पहुँचने में असमर्थ रहता है।

कृष्ण—

कृष्णपक्ष में जैसे उत्तरोत्तर अंधेरा बढ़ता है, इसी प्रकार जिसमें अज्ञान, वासना, रोग, निराशा आदि की वृद्धि होती है वह पतन के घोर अंधकार की ओर चलता हुआ जीवन नष्ट कर लेता है, उसे मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता।

दक्षिणायन—

सूर्य की अमृतमयी किरणों से जो स्फूर्ति प्राप्त करने योग्य नहीं रहता, जिसके स्वर्लोक का द्वार प्रगति-हीनता अपवित्रता अथवा अयोग्यता आदि दोषों से बन्द हो जाता है, जो अत्यन्त शिथिल और असमर्थ अवस्था में शरीर छोड़ता है, उसमें स्वर्ग तक पहुँचने की शक्ति नहीं रहती।

ऐसे योग में मरनेवाले योगीजन अपने शुभ कर्मों से स्वर्गलोक तक पहुँच जाते हैं और फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में जन्म लेते हैं।

इस प्रकार जगत् में दो मार्ग हैं—

२६

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥

शुक्लकृष्णे, गती, हि, एते, जगतः, शाश्वते, मते,
एकया, याति, अनावृत्तिम्, अन्यया, आवर्तते, पुनः ।

शुक्लकृष्णे=शुक्ल और कृष्ण, एते=ये दोनों, गती=मार्ग, हि=निःसन्देह, जगतः=जगत के, शाश्वते=सनातन (मार्ग) मते=माने गये है, एकया=एक के द्वारा, अनावृत्तिम्=लौटकर न आनेवाली परम गति को, याति=प्राप्त होता है, अन्यया=दूसरे से, पुनः=फिर, आवर्तते=लौट आता है ।

ये शुक्ल कृष्ण सदैव दो गति विश्व की ज्ञानी कहें ।
दे मुक्ति पहली, दूसरी से लौट फिर जग में रहें ॥

अर्थ—शुक्ल और कृष्ण ये दोनो मार्ग निःसन्देह जगत् के सनातन (मार्ग) माने गये हैं । एक के द्वारा लौटकर न आनेवाली परम गति को प्राप्त होता है, दूसरे से फिर लौट आता है ।

व्याख्या—जन्म-मरण से होनेवाली वेदना नरक के कष्टों के समान है । अतः मरण को सुखमय बनाने के लिये शरीरस्थ, जगत् के और अन्तरिक्ष के देवताओं को अनुकूल करना और देव-मार्ग पर चलना प्राणी का परम धर्म है ।

श्रेष्ठ-पुरुषों के लिये शुक्लगति और कृष्णगति ये दो मार्ग हैं। इन्हीं को देव-यान और पितृ-यान कहा जाता है। उपनिषदों में ये ही अर्चिरादि मार्ग और धूम्रादि मार्ग के नाम से कहे गये हैं। शुक्ल और कृष्ण मार्ग जगत् के सनातन मार्ग हैं।

सनातन मार्ग—

परमेश्वर, धर्म, ऋत और सत्य को सनातन कहते हैं, उन पर दुरितों की छाया नहीं पड़ती—वे अंधेरे से परे रहते हैं। जरा, मरण और व्याधि उन्हें नहीं व्यापती। जो नित्य नूतन है, प्रगतिशील है, निश्चित है और एक-रस है वही सनातन है। सनातन, सदा अमृत-रूप है, अनृत से परे और सम्पन्न है। उसके आयुष्य को काटने में काल असमर्थ रहता है। आसुरी और विकारवान केतु सनातन-सूर्य को नहीं ग्रस पाता।

शुक्ल—

शुक्ल-मार्ग से जानेवाले ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। शुक्ल-मार्ग, सत्य, ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न कर्मयोगियों का मार्ग है।

'सत्य श्रीर्ज्योति सोम'—सत्य, श्री और ज्योति (ज्ञान और प्रकाश) अमृत-जीवन के चिह्न हैं। प्रकाशमय अमृत-जीवन जीने के लिये सब प्रकार के पापों से बचना चाहिये। पापों से बचने के लिये ही वैदिक प्रार्थना है—

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, यद्भद्रं तन्नआसुव।"

हे जगदेव! दूर कर दो सब मेरे पाप और सन्ताप।
जो कुछ शुभ है वह सब आये मेरे पास आप-ही-आप॥

दुराग्रह, दुष्कर्म, दुष्टता, दुश्चरित्रता, दुर्भाग्य, दुस्साहस, दुर्वचन, दुर्गुण, दुर्नीति आदि दुरित हैं; अमृत के मार्ग पर जानेवाला इन

दुरितों से दूर रहकर मुक्ति का अधिकार प्राप्त करता है।

शुक्ल-गति के मूल में प्रकाश है। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष आदि सब प्रकाश के सूचक हैं। प्रकाश में रहना ही ऋषियों का सनातन मार्ग है।

कृष्ण—

कृष्ण-गति, अंधेरे का मार्ग है। जगत् में सनातन काल से प्रकाश और अंधकार दोनों रहते हैं। योगीजन भी कभी-कभी भूल, भ्रम, कुयोग, कुसंग और कामना द्वारा अंधकार से घिर जाते हैं।

सृष्टि के नियम अटल हैं। भूलों और अपराधों का फल भोगना ही पड़ता है। धार्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले सेवा-मार्ग में लगे हुए अनेकों गृहस्थी, साधु-संन्यासी आदि भी विकारों और वासनाओं के पाश में बँधकर अंधेरे में आ जाते हैं।

वेदों ने विश्व को सत्य के गान से गुँजाते हुए कहा है—

'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि।' (ऋ० १। २४। १०)

वरुण के व्रत उल्लङ्घन नहीं किये जा सकते। विश्व और विश्वपति के नियमों पर जीवन टिका रहता है। धर्म के नियम टूटते ही जीव निराधार होकर गिर जाता है। सङ्कीर्णता, मलिनता, कुवृत्ति के भावों में अमृत का अभाव रहता है।

'अनृतं पाप्मा तमः सुराः।' (शत० १। २। १०)

झूठ, पाप, तम और उन्मत्तता जीव को अमृत से दूर मृत्यु की ओर ले जाते हैं, दैवी लोकों से हटाकर आसुरी लोकों में धकेल देते हैं, यही दक्षिणायन का अथवा कृष्णपक्ष का मार्ग है।

इस मार्ग पर जानेवाले सञ्चित कर्मों के अनुसार पुण्यवानों के लोक पाते हैं परन्तु पुण्य बीत जाने पर फिर जन्म लेते हैं।

भाग्य, शुभ संस्कार अथवा दैवी कृपा प्राप्त करके अनेकों नर-नारी भोग-विलास, ऐश्वर्य आदि भोगते हैं, परन्तु सञ्चित पूँजी समाप्त होने पर वे फिर दु:खों में पड़ते हैं—यही दक्षिणायन-मार्ग है।

उत्तरायण और दक्षिणायन दो मार्गों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग और है—

"अथैतयो: पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीय ँ स्थान तेनासौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लाक. ।" (छान्दो० ५ । १० । ८)

जो इन दोनों मार्गों द्वारा नहीं जाते उनका तीसरा मार्ग है—"जन्मो और मरो" ये क्षुद्र और वारम्वार आने-जानेवाले तुच्छ प्राणी होते हैं, इन्हीं के कारण परलोक नहीं भरता—मृत्युलोक अधिकाधिक भरता जाता है। वुद्धिमानों को चाहिये कि सत्कर्मों द्वारा इस तीसरे मार्ग से बचे रहें।

चोर, मद्य पीनेवाला, पर-स्त्री-गामी तथा हिंसक ये चारों पतित होते हैं। पाँचवाँ पतित वह है, जो पतितों में आसक्त रहता है एवं भय अथवा स्वार्थ से उचित परामर्श न देकर स्वयं भी अंधेरे में भटकता है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयधीरा: पण्डित मन्यमाना ।
जङ्घन्यमाना: परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा. ॥
(मुण्डक० १।२।८)

अविद्या के अंधेरे में रहकर भी अपने को वुद्धिमान् तथा पंडित माननेवाले मूढ़जन—दु:ख-रोग, जरा-मृत्यु आदि अनर्थों से पीड़ित रहते हैं और इस प्रकार भटकते हैं जैसे अंधे के पीछे चलनेवाले अंधे।

दु:ख, भोग, रोग, दरिद्रता आदि प्रत्यक्ष पाप हैं, इनसे बचने का उपाय एकमात्र प्रकाश में रहकर शुभ कर्म करना और कराना है।

मुक्ति-मार्ग को जानकर कर्तव्य-पालन ही जीवन्मुक्ति का साधन है—

२७

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

न, एते, सृती पार्थ, जानन्, योगी, मुह्यति, कश्चन,
तस्मात्, सर्वेषु, कालेषु, योगयुक्तः, भव, अर्जुन।

पार्थ=हे पार्थ, एते=इन दोनों, सृती=मार्गों को, जानन्=जानता हुआ, कश्चन=कोई भी, योगी=योगी, न=नहीं, मुह्यति=मोहित होता, तस्मात्=इसलिये, अर्जुन=हे अर्जुन, सर्वेषु=सब, कालेषु=समय में, योगयुक्तः=योग-युक्त, भव=हो।

ये मार्ग दोनों जान, योगी मोह में पड़ता नहीं।
इस हेतु अर्जुन! योग-युत सब काल में हो सब कहीं॥

अर्थ—हे पार्थ! इन दोनों मार्गों को जानता हुआ कोई भी योगी, मोहित नहीं होता। इसलिये हे अर्जुन! सब समय में योग-युक्त हो।

व्याख्या—उत्तरायण और दक्षिणायन के मार्गों का तत्त्व-ज्ञान, मोह से छुड़ानेवाला है।

शब्दों के मोह में पड़कर दिन के समय शुक्लपक्ष में और उत्तरायण में शरीर छोड़नेवालों की मुक्ति मानने से भ्रम हो सकता है। गीता और उपनिषदों में देवमार्ग में प्राण छोड़नेवाले की मुक्ति का उल्लेख है। शुक्ल और कृष्ण गतियाँ काल-प्रधान—मार्ग-सूचक हैं।

मनुष्य, कर्मों के अनुसार और शास्त्र, गुरु, संग, शिक्षा,

व्यवसाय से उत्पन्न भावों के अनुसार सुख-दुःख, लाभ-हानि, स्वर्ग-नरक, मुक्ति और बन्धन में पड़ता है, यही प्रकाश-मार्ग और अंधकार के मार्ग का रहस्य है। इन गतियों को जाननेवाला, मोह से पार हो जाता है और न जाननेवाले की दुर्गति होती है।

मोह में नहीं पड़ते

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद न समझ पाना मोह है। विवेक भ्रष्ट हो जाने को भी मोह कहते हैं। भ्रान्ति, अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, भले-बुरे को न समझना, क्षणिक सुख मे अपने स्वरूप को भूल जाना और मूढ़ता दिखाना—मोह कहा जाता है।

सही मार्ग को जाननेवाला श्रद्धा, तत्परता और संयम पूर्वक चलता है—कर्त्तव्य भ्रष्ट नहीं होता। अत मोह मे नहीं पड़ता।

योगयुक्तो भवार्जुन।

हे अर्जुन! प्रत्येक काल मे योगयुक्त रहो। योगयुक्त होना या रहना गीता का सर्वोपरि आदेश है। सर्वेश्वर, शक्तिमान् और शुभ के निधान परमेश्वर से जुडा रहना योग है। चित्त-वृत्तियों का निरोध और इन्द्रियो पर सयम करना भी योग है। कर्म की कुशलता और बुद्धि की समता को भी योग कहते हैं। कर्म, भक्ति, ज्ञान, जप, अभ्यास, सयम, सन्यास, आत्मा, ब्रह्म किसी मे भी योग लगा देने से पूर्णता प्राप्त हो जाती है।

गीता ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र है—उससे प्रत्येक मार्ग मे कुशलता, व्यवस्था, समता, रस, शक्ति, आनन्द और पूर्णता मिलती है।

योगयुक्त होने का अभिप्राय है हर समय योग मे नियुक्त रहना और योग के ध्येय को साधे रखना अथवा योग के मार्ग पर चलना। योग का मार्ग मुक्ति का मार्ग है। जो किसी समय, किसी भी स्थिति या परिस्थिति मे आत्मा, परमात्मा और शुभ का संयोग नहीं छोड़ता, वह सदा युक्त रहनेवाला योगी सत्य और असत्य के मार्गों को जानकर मोह मे नहीं पड़ता।

२८

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

वेदेषु, यज्ञेषु, तपःसु, च, एव, दानेषु, यत्, पुण्यफलम्, प्रदिष्टम्, अत्येति, तत्, सर्वम्, इदम्, विदित्वा, योगी, परम्, स्थानम्, उपैति, च, आद्यम् ।

इदम्=इस रहस्य को, विदित्वा=तत्त्व से जानकर, योगी=योगी पुरुष, वेदेषु=वेदों, यज्ञेषु=यज्ञों, तपःसु=तपों, च=तथा, दानेषु=दानों में, यत्=जो, पुण्यफलम्=पुण्य फल प्रदिष्टम्=बताया गया है, तत्=उस, सर्वम्=सबको, एव=निस्सन्देह, अत्येति=पार कर जाता है, च=और, आद्यम्=सनातन, परम्=परम, स्थानम्=पद को, उपैति=प्राप्त होता है ।

जो कुछ कहा है पुण्य-फल, मख वेद से तप दान से ।
सब छोड़ आदिस्थान ले, योगी पुरुष इस ज्ञान से ॥

अर्थ—इस रहस्य को तत्त्व से जानकर योगीपुरुष वेदों, यज्ञों, तपों तथा दानों में जो पुण्यफल बताया गया है उस सबको निःसन्देह पार कर जाता है और सनातन परम पद को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—सनातन परमपद, परमगति, परमधाम या निर्वाण पाने का अधिकारी केवल योगी है। पाँचवें अध्याय में निर्वाण की

चर्चा की गई है। ब्रह्म-चेतना मे रहना—अपनी आंशिक सत्ता को पूर्ण सत्ता में विलीन कर देना निर्वाण कहलाता है। जब बाहरी विषयों मे आसक्ति नहीं रहती तब आत्मा के अक्षय सुख का अनुभव होता है। यह सुख काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से छूटे बिना कभी नहीं मिलता। विकारों से छूटते ही अन्त.ज्योति का प्रकाश मिलता है और तब सब मार्ग खुल जाते हैं, पाप धुल जाते है, दुविधा कट जाती है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर सहज संयम हो जाता है। इस अवस्था मे रहनेवाला जीवन में ही मुक्ति या निर्वाण पाता है। जीवन-मुक्त को ऋषि कहें या योगी कहें—वह सदा युक्त रहकर परमपद प्राप्त करता है।

योगी इस रहस्य को जानता है।

गीता ने जिन दो कालों का वर्णन किया, उत्तरायण और दक्षिणायण के मार्ग दिखाये, शुक्ल और कृष्ण गतियों को स्पष्ट किया उस सबको योगी तत्वतः जान लेता है। केवल जाननेवाला अटक-भटक सकता है, पर तत्त्व से पूरी-पूरी तरह जाननेवाला नित्य योगयुक्त रहकर ज्ञान पूर्वक कर्म करता हुआ निरन्तर आगे चलता है।

वेदों, यज्ञों, तपों और दानों में पुण्य है।

पाठ, स्वाध्याय और श्रवण करते-करते वेदों का ज्ञान व्यवहार में आकर जीवन को मुक्त, योगयुक्त, सफल, सुखी और सम्पन्न बनाता है। यही पुण्यफल है। यज्ञ, तप और दान करनेवाले को भी परम पुण्य मिलता है।

पुण्य वह है जिससे शुभ ही शुभ होता है, गिरने की सम्भावना नहीं रहती, ज्योतियाँ जगमग रहती हैं, विकारों मे मन नहीं उलझता,

प्रपञ्च छूट जाते हैं, बन्धन टूट जाते हैं।

पाप रजोगुण से उत्पन्न होता है, वासनाओं से बढ़ता है। पुण्य सत्वगुण से प्रगट होकर सद्भावना, सत्य, सद्‌विचार, सत्सङ्ग और सत्त्व में स्थित रहने से बढ़ता है।

पवित्र रहना, हितकर कर्म करना, धर्म को धारण करना, सदाचार सहित व्यवहार करते रहना, चरित्र सुधारना और मङ्गल-मार्ग पर चलना पुण्य कहा जाता है।

वेद, यज्ञ, तप और दान का फल पुण्य है। शुभ का फल शुभ मिलता है। पुण्य सञ्चित होते रहते हैं तब तक पुण्य के फल से सुख और सम्पन्नता मिलती है परन्तु जब पुण्यों के फलस्वरूप भोग मिलते हैं और नर-नारी उन भोगों में लिप्त हो जाते हैं तब उन्हें फिर गिरना पड़ता है।

प्राय: मनुष्य पुण्यों को खाता है, सञ्चित नहीं कर पाता-अतः गिर जाता है। योगी पुण्य करता है पर उसके फल में आसक्त नहीं होता-अतः परमगति पाता है।

अत्येति तत्सर्वम्।

योगी उस सबको पार कर जाता है। पुण्य कर्मों से जो सुख, भोग, वैभव, ऐश्वर्य, उच्चपद, प्रतिष्ठा, यश, मान आदि का लाभ होता है, उससे योगी पुण्यों का पथ नहीं छोड़ता; भूलता भटकता भी नहीं है, उलझता और गिरता भी नहीं है, चलते-चलते पार निकल जाता है।

पार कर जाना ही—'सर्वधर्मान्परित्यज्य'-सब धर्मों का परित्याग है। जो पार निकल जाता है वह अपने अन्तिम ध्येय को पाता है—

'मामेकं शरण व्रज'—एक मेरी शरण में आना ही पार जाना है। यही परमगति है—सनातन परमपद है। इसे वह पाता है जो

योगयुक्त होकर शुक्ल मार्ग से निरन्तर चलता जाता है।

इस मन्त्र के अत्येति (पार कर जाता है) और उपैति (प्राप्त होता है) शब्दों का आशय वैज्ञानिक और गम्भीर है। पार किये विना प्राप्ति नहीं होती। तत्पर हुए विना मत्परता नहीं आती। परित्याग के विना शरणागति नहीं होती।

बन्धन और मुक्ति के मार्गों का ज्ञान पार ले जाता हुआ उस तक पहुँचा दे तभी सार्थक है। योगी अपना सर्वसमर्पण करके परमेश्वर के साथ सदा प्रकाश के मार्ग पर चलता है और किसी भी समय विचलित न होकर नित्यानन्द में रहता हुआ अनन्त आनन्द देनेवाले सनातन पद को पाता है।

गीता का यह मन्त्र एक शान्त, निर्मल और उज्ज्वल वातावरण बनाने वाला है। जो इसका मनन करता है वह पाप-बन्धनों और पुण्य-भोगों को पार कर जाता है; सदा प्रकाश मे रहता है, परमेश्वर का प्रसाद, प्रेम और आनन्द पाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्याय ॥८॥

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य गीताज्ञान का आठवां अध्याय
मङ्गल-मार्ग-योग सम्पूर्ण।

卐

श्रीमद्भगवद्गीता

राजविद्या-रहस्ययोग

ज्ञान अनन्त है। ज्ञान को किसी मर्यादा में बाँधना उसी प्रकार है जैसे सागर को गागर में भरना। महर्षियों ने अपने तप और दिव्य दर्शन से इस युक्ति को भी सिद्ध कर दिखाया है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

प्रलाप व्यर्थ है, ज्ञान का इतना ही सार है कि कुटिल जीवन का नाम मृत्यु और सरल तथा निर्मल जीवन ब्रह्मपद है।

पवित्र निर्विकार और निष्पाप होकर विश्वरूप परमेश्वर के साथ हुआ जीवन अमृत का घट है। उसमें परम सुख भरा रहता छान्दोग्य के ऋषि के मुख से सत्य की वाणी निकली है--

'यो वै भूमा तदमृतम्।'

जो भूमा है वही अमृत है।

इस अमृत की एक बूँद भी हाथ लग जाने से जीवन सफल हो जाता है। अमृत की प्राप्ति के लिये देवों और दानवों के भीषण युद्ध हुए हैं, इसी के लिये परम पुरुषार्थ है। अमृत की खोज में भटकनेवाले शुष्क ज्ञानियों की तृष्णा आज तक शान्त नहीं हो सकी। वे मरुभूमि में मृग की भांति ही भटकते रहे हैं। कर्मशील ऋषियों ने भक्ति के आँगन में बैठकर ज्ञान का दीप प्रज्वलित किया और उसके प्रकाश में अमृत का मार्ग देख लिया है।

जीवन्मुक्त जनक ने सुलभा को अपनी सफलता का रहस्य समझाते हुए कहा था—

> "मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टाऽन्यैर्मोक्षवित्तमै।
> ज्ञान लोकोत्तर यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम्॥
> ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदोजना:।
> कर्मनिष्ठा तथैवान्ये यतय सूक्ष्मदर्शिन:॥
> प्रहायोभयमप्येव ज्ञान कर्म च केवलम्।
> तृतीयेय समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना॥"
>
> (महाभा० शाति ३२०।३८-४०)

मुक्ति अथवा अमृत को जाननेवालों ने मुक्ति पाने के तीन मार्ग दिखाये हैं—

१—कुछ विद्वानों के मत से लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त करके सब कर्मों का त्याग मुक्ति का मार्ग है।

२—सूक्ष्मदर्शी यतिजन कर्म-निष्ठा को मुक्ति का मार्ग बताते हैं।

३—उस महात्मा पंचशिख ने मुझे ज्ञान से आसक्ति का क्षय करके कर्म करने का तीसरा मार्ग दिखाया है।

मुक्ति के इन मार्गों में से सांख्य तथा बादरायण के सूत्रों में ज्ञान की आधार-शिला पर ही मुक्ति के धाम को खड़ा किया है।

मीमांसकों के मत से यज्ञ, यागादि कर्मों के पथ पर मुक्ति के दर्शन होते हैं।

तीसरा मार्ग जनकादि जीवन्मुक्त कर्मयोगियों का है। इसमें ज्ञान और कर्म का सहायोग है। मुक्ति, न ज्ञान-विरहित कर्म से मिलती है और न कर्म-रहित शुष्क ज्ञान से।

गीता ने इन सब मार्गों का समन्वय करके एक निश्चित और स्पष्ट राजमार्ग दिखाया है और ज्ञान-पूर्वक कर्म को निर्विकार करने के लिये भक्ति का सम्पुट लगाया है।

'शरीर पकति कर्माणि।'

शरीर से रोग निकाल फेंकने के लिये कर्म हैं। स्वस्थ और निर्विकार देह में ब्रह्म की प्रतिष्ठा होती है। उस ब्रह्म का दर्शन करने के लिये दृष्टि देनेवाला ज्ञान है।

'कपाय कर्मभि पक्वे रस ज्ञाने च तिष्ठति।'

कर्म करते-करते जब शरीर के सारे दोष दूर हो जाते हैं, तब ज्ञान के रस की प्यास लगती है, इस पिपासा को शान्त करनेवाला परमेश्वर है।

परमेश्वर अनन्त और अपार है! वेदों ने 'नेति-नेति' कहकर उसके प्रति श्रद्धा से शीश झुका दिया है। परमेश्वर को खोजनेवालों ने एक ही उत्तर दिया है—'उसे किसी ने नहीं जाना और कोई नहीं कह पाया।' जाननेवालों ने उसे अपार जाना है। भक्त-शिरोमणि तुलसीदास ने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा—

सो जानिहि जेहि देहु जनाई।
जानत तुमहिं तुमहिं हुइ जाई॥

जिसने उसे जितना जाना है, उतना ही कहा है। महाज्ञानी-जनों ने तर्क की कसौटी पर टक्कर मार-मार कर बुद्धि को चकनाचूर कर दिया, परन्तु उसे न समझ पाये। ऐसी दशा मे स्वभावत प्रश्न उठता है कि जो अगम और अव्यक्त है, जिस तक प्रकाड पंडितों की तीव्र बुद्धि भी नहीं पहुँचती, वह साधारण जनों की समझ मे कैसे आये ?

गीता का नवाँ अध्याय मनुष्य की इसी कठिनाई को सरल करता है और परमेश्वर के सहज दर्शन करने की दृष्टि देता है।

कर्म करते-करते परमेश्वर का ज्ञान मिलता है। उसी ज्ञान से शान्ति अथवा मुक्ति मिलती है। मनुष्य की व्यावहारिक कठिनाइयों को सरल करके उसे सर्व-सुलभ राजमार्ग पर लाने के लिये श्रीकृष्ण ने गीता मे इस रहस्यमय ज्ञान को गूँथा है।

ज्ञान के हाथों से जब कर्म और भक्ति का गठबन्धन होता है, तब सुख के दिन आते है और मनुष्य को ऐसे राजमार्ग पर ले जाते है, जहाँ आँख मूँदकर सीधे चले जाने मे भी मुक्ति-भवन मिल जाता है।

धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहि।

आँख बन्द करके दौडने पर भी इस मार्ग पर गिरने का भय नहीं है।

ज्ञानपूर्वक सेवा कार्यों मे लगा हुआ मनुष्य नित्य परमेश्वर की आराधना करता है। वह अपने सत्य-कर्मों से ससार को स्वर्ग बना लेता है।

मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाले स्वर्ग और नरक से क्या प्रयोजन ? मनुष्य, जीवन मे प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ग देखने की अभिलाषा करता है। गीता के इस अध्याय मे श्रीकृष्ण ने जीवन-काल मे ही मुक्ति से

मधुर मेल करा दिया है। स्वर्ग और उसके सुख-भोगों का क्या रूप है? किसे स्वर्ग मिलेगा और किसे नरक मिलेगा, इसका निर्णय भी किसने किया है? कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, कौन जाने कब क्या हो जाता है? ज्ञान का मार्ग तलवार की धार के समान है, चूक होते ही जीवन का ठिकाना नहीं। साधारण मनुष्य शान्ति और सुख चाहता है और एक ऐसा मार्ग चाहता है, जो सबके लिये खुला हो— बालक-युवक, बूढ़े, नर-नारी, ज्ञानी-अज्ञानी, दुर्बल-बलवान, रोगी और स्वस्थ, प्राणिमात्र के लिये सुलभ हो।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कृपा करके ऐसे ही सरल और गोपनीय मार्ग को सबके लिये खोल दिया है। इस मार्ग पर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। पवित्रता इस पर छिड़काव करती है, मनुष्य का प्रत्येक कर्म, यज्ञमय होकर इस मार्ग की सुन्दरता बढ़ाता है। इस मार्ग पर चलनेवाले का भार परमेश्वर ले लेता है, इस पर पीड़ा अथवा थकान का कोई काम नहीं। इस मार्ग पर मनुष्य में भी ब्रह्म का दर्शन होता है। अतः यहाँ न राग है, न द्वेष है, सब द्वन्द्वों से मुक्त, पवित्र और उत्तम यह राजमार्ग है।

राजमार्ग उन श्रेष्ठपुरुषों का मार्ग है जो विषयों को छोड़कर अमृत, प्रकाश, शक्ति, रोग-रहित अवस्था, तीव्र बुद्धि, कुशल और प्रेममय जीवन चाहते हैं। राजमार्ग पर चलनेवाले को कहीं भटकना नहीं पड़ता। राजमार्ग सच्चे धर्मशीलों का मार्ग है। सुख, समृद्धि और सम्पत्ति राजमार्ग पर स्वयं सुलभ हो जाती है। राजमार्ग वह दैवी मार्ग है जिस पर सर्वत्र मुक्ति का मधुर मिलन होता है।

राजमार्ग का द्वार खोलते हुए श्रीकृष्ण का मधुर वंशी-निनाद गूँज उठा और उसमें से एक दिव्य मनमोहिनी ध्वनि निकली—

१

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

इदम्, तु, ते, गुह्यतमम्, प्रवक्ष्यामि, अनसूयवे,
ज्ञानम्, विज्ञानसहितम्, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ।

(अब मैं) ते=तुझ, अनुसूयवे=दोषदृष्टि-रहित से, इदम्=इस, गुह्यतमम्=परम गुप्त, ज्ञानम्=ज्ञान को, विज्ञान सहितम्=विज्ञान के सहित, प्रवक्ष्यामि=कहूँगा, तु=कि, यत्=जिसे ज्ञात्वा=जानकर (तू) अशुभात्=अशुभ से, मोक्ष्यसे=छूट जायगा ।

अब दोष दर्शी तू नहीं यों, गुप्त, सह-विज्ञान के ।
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जो जान के ॥

अर्थ—**अब मैं तुझ दोष-दृष्टि-रहित से इस परम गुप्त ज्ञान को विज्ञान के सहित कहूँगा कि जिसे जानकर तू अशुभ से छूट जायगा ।**

व्याख्या—आठ अध्यायों का पवित्र और उत्तम ज्ञान सुनते-सुनते अर्जुन पवित्र होगया था। उसने कुतर्क और संशय के कूड़े-कचरे को बुहारकर फेंक दिया था। अतः श्रीकृष्ण अपने हृदय को अर्जुन के हृदय में मिलाने के लिये तैयार होगये। पवित्र आत्मा अर्थात् असूया-रहित से भगवान् घनिष्ठता और प्रेम का नाता जोड़ते हैं।

असूया-रहित—

'न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्द गुणानपि,
नान्य दोषेषु रमते सानसूयो प्रकीर्तिता।'

जो गुणवानों के गुणों की घात नहीं करता, मन्द गुणशीलों का भी उत्साह बढ़ाता है और दूसरे के दोषों में आसक्त नहीं होता, उसे 'अनसूया' कहते हैं।

जो अपने दोष देखता है, वही दोष-हीन है। पर दोषों को देखनेवाला सबसे बड़ा दोषी और पाप का भागी होता है। पापात्मा और पुण्यात्मा की पहचान, दृष्टि और वाणी से होती है। पुण्यात्मा, अपने दोषों को देखता है और मधुर हितकर तथा अभिमान-रहित शीतल वाणी बोलता है। पापात्मा अपने दोष न देखकर पराये दोष देखता है और अभिमान-भरे, कड़ुवे तथा दुःखदायी वचन बोलता है।

गुणों में दोष देखने की बुद्धि उस भूमि के समान होती है जिसमें वर्षा होने पर भी तिनका नहीं जमता। जो प्रत्येक बात में, मनुष्य में, कर्म में और व्यवहार में दोष देखता है, उसमें ज्ञान और गुण-ग्रहण करने की योग्यता नहीं रहती। निर्मल और निर्दोष मनुष्य श्रीकृष्ण के अनहद शब्द सुनते हैं। असूया-रहित ही राजमार्ग पर चलने के योग्य होता है।

गुणों में दोष देखनेवाला दूसरे की नहीं सुनता। उसमें श्रद्धा और विश्वास के अंकुर नहीं जमते। कुतर्क, संशय, भ्रम, वाद-विवाद और भेद में उलझकर वह ज्ञान के मार्ग से दूर चला जाता है। ज्ञान का मार्ग परमेश्वर का मार्ग है—वह अत्यन्त गुप्त है।

गुप्त-ज्ञान—

जगत् में परमेश्वर के ज्ञान से गुप्त और कुछ नहीं है। परात्पर

पुरुषोत्तम के रूप, गुण, प्रभाव, शक्ति और विभूति का ज्ञान, उनसे पहचान तथा उनसे योग करना जगत् मे सबसे बड़ा रहस्य है। परमेश्वर निगूढ़ और गुह्य है। सृष्टि के आदिकाल से आज तक जो कुछ जाना गया है और जाना जायगा, उससे भी परमेश्वर परे है। वह ऐसा गुह्यतम है कि जो उसे देखता है वह बोलता नहीं और जो बोलता है वह देखता नहीं, वाणी देखती नहीं है और नेत्र बोलते नहीं है।

कोई कहता है 'वह है', कोई कहता है 'नहीं है', कोई 'व्यक्त' कहता है, कोई 'अव्यक्त'। सन्-असत् दोनों से परे सूक्ष्म और महान् अनादि और अनन्त वह ऐसा है कि उसका रहस्य ज्यों का त्यों है।

श्रीकृष्ण उस गुह्यतम रहस्य को प्रत्यक्ष दिखाने का आश्वासन देते है, जिसे जानकर मनुष्य सम्पूर्ण अशुभ से छूट जाता है। ज्ञान और विज्ञान-सहित उसके वर्णन से श्रीकृष्ण ने राजमार्ग का उद्घाटन किया है।

विज्ञान के विना ज्ञान अधूरा रहता है। ज्ञान को आचरण मे लाने के लिये विज्ञान की आवश्यकता है।

विज्ञान देवा सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठ उपासते।

सब देवता विज्ञान रूप ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते है।

(ज्ञान और विज्ञान की व्याख्या सातवें अध्याय के प्रथम श्लोक मे देखिये)

गीता के इस गुप्त रहस्य को जानकर मनुष्य अशुभ से मुक्त हो जाता है। अशुभ से छूट जाना ही सम्पूर्ण ज्ञान, कर्म और भक्ति का ध्येय है। अशुभ के पञ्जों मे फँसा हुआ प्राणी, सदा मृत्यु के मुख मे रहता है। अशुभ से छुड़ा देनेवाला ज्ञान और कर्म ही पुरुष को पुरुषोत्तम से मिलाता है। अशुभ से छुड़ानेवाले गुप्त ज्ञान का प्रारम्भ करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

२

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

राजविद्या, राजगुह्यम्, पवित्रम्, इदम्, उत्तमम्, प्रत्यक्षावगमम्, धर्म्यम्, सुसुखम्, कर्तुम्, अव्ययम् ।

इदम्=यह (ज्ञान), राजविद्या=राजविद्या, राजगुह्यम्=परम गुप्त, पवित्रम्=पवित्र, उत्तमम्=उत्तम, प्रत्यक्षावगमम्=प्रत्यक्ष फल देनेवाला, धर्म्यम्=धर्मयुक्त, कर्तुम्=करने में, सुसुखम्=अति सरल, (तथा) अव्ययम्=अविनाशी है ।

यह राजविद्या परम-गुप्त, पवित्र, उत्तम ज्ञान है ।
प्रत्यक्ष फलप्रद धर्मयुत, अव्यय, सरल, सुख-खान है ॥

अर्थ—यह राजविद्या, परम गुप्त, पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फल देनेवाला, धर्मयुक्त, करने में अति सरल तथा अविनाशी है ।

व्याख्या - गीता के इस नवें अध्याय में जिस ज्ञान का दिग्दर्शन कराया गया है उसकी विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. राजविद्या—

विद्या सब गुणों की खान है। महाभारत में अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थशास्त्र, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराणादि अनेक

विद्यायें हैं। भूगोल, खगोल, गणित, भौतिक, आध्यात्मिक, शरीर और मन सम्बन्धी विद्यायें भी प्रसिद्ध हैं। मनुष्य के जीवन का सर्वतोमुखी विकास करना विद्या का ध्येय है। विद्या से पुरुष और प्रकृति का विराट दर्शन तथा व्यावहारिक ज्ञान होता है।

विद्या का बल सर्वश्रेष्ठ है। विद्या के विना मनुष्य और पशु मे कोई अन्तर नहीं रहता। विद्या, मनुष्य की चिर-जीवन-सगिनी है, किसी भी परिस्थिति मे एक वार हाथ पकडकर वह साथ नहीं छोडती। विद्या सम्पूर्ण ज्ञान की माता है।

सर्वश्रेष्ठ विद्या वही ह, जो पुरुष को पुरुषोत्तम से मिलाती है और सर्वतोमुखी विकास का द्वार खोलती है।

राजविद्या, सब विद्याओं की सिरमौर है। साधारण स्तर से ऊपर उठे हुए पुरुष ही उसके अधिकारी होते हैं।

राजविद्या से आत्मराज्य—रामराज्य की स्थापना होती है और पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अनुशासन भी होता है। मनुष्य, परिवार मे किस भाति रहे? समाज मे मान पूर्वक अपना स्थान किस प्रकार बनाए रखे? व्यवहार मे तथा राजनीति में किस प्रकार अग्रसर हो? और सदा परमेश्वर के साथ कैसे रहे? इस महान और अचूक ज्ञान को देनेवाली 'राजविद्या' है।

२ राजगुह्य—

व्यासजी के मत से मनुष्य को ज्ञान लेना सबसे उत्तम ज्ञान है। परन्तु उससे भी गुप्त ज्ञान वह है, जिससे मनुष्य जैसा चमत्कारी आविष्कार हुआ है। मनुष्य के विधाता के ज्ञान में विद्याओं की वाणी मौन रह जाती है, आँखों जैसी तेजोमय शक्ति भी उसे देखने मे असमर्थ है, सूर्य्य, चन्द्र और देवता आजतक उसीकी परिक्रमा और

स्तवन करते हैं परन्तु उस गुप्त-भेद को कोई नहीं जान पाया है। यही सबसे बड़ा प्रश्न—संप्रश्न है। मनुष्य के सामने आज तक इससे बड़ा प्रश्न नहीं आया है। जिसने इस प्रश्न को सुलझाया वह फिर बताने नहीं आया।

गीता इसी प्रश्न को मानवमात्र के लिये सुलझा देती है, परन्तु यह इतना गुप्त है कि अर्जुन की पांति में बैठनेवाले ही इसे समझने योग्य होते हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण ने इसे 'गुप्त ज्ञान' कहा है।

३. पवित्र—

गीता, गंगा, गायत्री और गोविन्द में जिसकी पवित्रता है, जिसके नामोच्चारण मात्र से हृदय में उथल-पुथल हो जाती है और विकार धुल-धुलकर बहने लगते हैं, वही पवित्रों को पवित्र करनेवाला परम पुरुष इस अध्याय में साक्षात् खड़ा हो जाता है। सन्ध्या-वन्दन में पुण्डरीकाक्ष भगवान् के स्मरण मात्र से भीतर और बाहर के मैल धोये जाते हैं, उसी पुण्डरीकाक्ष का पवित्र और प्रत्यक्ष ज्ञान इस अध्याय में है। यह ज्ञान पतित को भी पावन बनानेवाला है।

४. उत्तम—

ज्ञान और परमेश्वर की चर्चा सभी उत्तम है। उसमें अच्छे-बुरे का प्रश्न ही नहीं होना चाहिये। गीता का प्रत्येक अध्याय और श्लोक ज्ञान की अखण्ड-धारा बहाता है। जो कुछ सन्मुख आता है, वही समझनेवाले के लिये सर्वोत्तम है। फिर भी मनुष्य उत्तमता का निर्णय हृदय से करता है। जो बात हृदय को छू ले और हृदय में स्थित सच्चिदानन्द को आँखों के सामने खड़ा कर दे, वही मनुष्य के लिये उत्तम है। गीता के नवें अध्याय में ऐसा ही उत्तम ज्ञान है।

५. प्रत्यक्ष फल देनेवाला—

सुनी हुई बात असत्य हो सकती है और देखी हुई भी असत्य हो सकती है। देखने और सुनने से ऊपर शिव का तीसरा नेत्र है। शिव-नेत्र—समदृष्टि अथवा दिव्यदृष्टि से सृष्टि और सृष्टि-चक्र को चलानेवाला प्रत्यक्ष दीखने लगता है।

मनुष्य का स्वभाव शंकाशील है वह प्रत्येक बात में सन्देह करता है बहुत से शिक्षित युवक तथा विचारवान् भी कहते हैं यदि परमेश्वर है तो दिखना चाहिये? जो नहीं दिखता उसे हम क्यों मानें?

गीता का नवाँ अध्याय उठते-बैठते डोलते-बोलते परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है—

मनुष्य नहीं चाहता कि वह कर्म करे और फल न चाहे। वह जितना करता है उससे भी अधिक चाहता है। गीता का यह ज्ञान प्रत्येक फल देनेवाला है। मनुष्य जितना करता है उससे सहस्रगुना फल देने के लिये श्रीकृष्ण दोनों हाथों से इस अध्याय में अपनी कृपा बखेर रहे हैं।

६. धर्मयुक्त—

धर्म का प्रत्यक्ष फल परमेश्वरमय जीवन है। धर्म करते-करते भी यदि दुःख, रोग-राग, द्वेष-क्लेश आदि विकार पीछा न छोड़ें तो कहीं न कहीं छिद्र होता है जिसमें सब किया-कराया समा जाता है अथवा धर्म के निश्चित मार्ग से ही साधक अनभिज्ञ रहता है, अथवा वह धर्म के नाम पर दम्भ करता है।

धर्म क्या है? उसका आचरण कैसे किया जाय? उसका फल क्या है? इसका स्पष्ट और निश्चित वर्णन गीता के इस अध्याय में है।

७. करने में सरल—

संसार में परमेश्वर को पाने के अनेकों रास्ते हैं। ज्ञानीजन अनेक प्रकार से उनकी चर्चा करते हैं। जिस रास्ते पर परमेश्वर मिल जाय, वही श्रेष्ठ है। प्रेम-भक्ति में निमग्न गोपियाँ 'गोरस बेचन हरि मिलन एक पंथ दो काज' कहती हुई दूध बेचते-बेचते परमेश्वर को पा लेती थी, कबीर ने चदरिया बुनते-बुनते उसे पा लिया था। रैदास अपने परमेश्वर को जूते पहराया करता था, मीरा ने अपनी हृदय की मधुर ध्वनि से उस प्रियतम को रिझा लिया। करनेवाले उसे बड़ी सरलता से पा लेते हैं पर केवल कहनेवाले चर्चा करते-करते थक जाते हैं और उसे कभी नहीं पाते।

ब्रह्म का निरूपण ज्ञानी पुरुष ऐसे कठिन शब्दों में और दुर्लभ बताकर करते हैं कि मनुष्य उनके चरणों में माथा रगड़-रगड़ कर भी परमेश्वर की एक झलक नहीं देख पाता। गीता ऐसे परम गुप्त दुष्प्राप्य ब्रह्म को सुख और सरलता से पाने का ज्ञान देती है।

८. अव्यय—

ज्ञान वह है जो सदा साथ देकर ध्यान में स्थित रखे और परमेश्वर वह है जिसकी कृपामात्र से मनुष्य विकारों से छूट जाय। ज्ञान की आँख से परमेश्वर का अव्यय स्वरूप देखा जाता है। परमेश्वर की शक्ति दिन-रात अनन्त कार्य करने पर भी कभी व्यय नहीं होती। मनुष्य जितना उस अव्यय ब्रह्म की ओर जाता है उतनी ही अधिक दिव्य शक्ति पाता है।

पुरुष को पुरुषोत्तम तक पहुँचानेवाली गीता की मधुर वाणी में श्रीकृष्ण ने कहा—

३

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

अश्रद्दधानाः, पुरुषाः, धर्मस्य, अस्य, परंतप,
अप्राप्य, माम्, निवर्तन्ते, मृत्युसंसारवर्त्मनि ।

परंतप=हे परंतप अस्य=इस, धर्मस्य=धर्म में, अश्रद्दधानाः=श्रद्धाहीन, पुरुषाः=पुरुष माम्=मुझे अप्राप्य=न पाकर, मृत्युसंसारवर्त्मनि= मृत्युरूप संसारचक्र में निवर्तन्ते=चक्कर काटते रहते हैं ।

श्रद्धा न जिनको पार्थ है इस धर्म के शुभ सार में ।
मुझको न पाकर लौट आते मृत्युमय संसार में ॥

अर्थ—**हे परंतप ! इस धर्म में श्रद्धा-हीन पुरुष मुझे न पाकर मृत्युरूप संसारचक्र में चक्कर काटते रहते हैं ।**

व्याख्या—राजविद्या का योग सबके लिये सरल और सुलभ है। फिर भी जिन्हें काम-क्रोधादि शत्रु दबा लेते हैं, धर्म की आधार-शिला टूट जाने से जिनकी श्रद्धा का भवन ढह जाता है, उन्हें मुक्ति का राजमार्ग नहीं मिलता और वे परमेश्वर तक नहीं पहुँचते ।

श्रद्धा सब कर्मों की आधार शिला है। सत्य की धारणा का नाम श्रद्धा है। सत्य के साथ ही श्रद्धा रहती है। असत्य और

अज्ञान के साथ अश्रद्धा रहती है। अश्रद्धा से अन्धकार, मोह और दम्भ का परिवार बढ़ता है। श्रद्धा से ज्ञान, चरित्र और उदारता का निर्मल वातावरण बनता है। जिसमें सत्य की धारणा (श्रद्धा) नहीं है, वह सुख और प्रकाश रूप परमेश्वर तक नहीं पहुँचता। श्रद्धा से बल और विश्वास मिलता है। ज्ञान को धारण करने की रुचि देनेवाली श्रद्धा है। श्रद्धाहीन नर-नारी कहीं कुछ नहीं पाते।

जो परंतप हैं अर्थात् जिनसे विषय-विकार आदि शत्रु भयभीत रहते हैं, उन्हीं में श्रद्धा का उदय होता है और वे ही राज-मार्ग पर चलने योग्य होते हैं।

श्रद्धाहीन परमेश्वर तक नहीं पहुँचते, उन्हें बार-बार मृत्यु के मुख में जाने के लिये आना पड़ता है। विजय का देनेवाला अपना और परमात्मा का ज्ञान है। जिसे ज्ञान नहीं मिलता, उसे आसुरी बुद्धि बार-बार पराजित करती है—

'स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानम् न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः।' (कौषीत० ४। २०)

उस इन्द्र को जब तक आत्म-ज्ञान नहीं हुआ तब तक वह असुरों से पराजित होता रहा।

अश्रद्धा, पराजय, अपयश, असफलता, निराशा, क्लेश, चिन्ता आदि मृत्यु के मित्र हैं, इन्हीं की सहायता से मृत्यु अपना कार्य करती है। श्रद्धा के पथ से परमेश्वर के पास पहुँचनेवाले ज्ञानी-भक्त, सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाते हैं, उन पर मृत्यु का अनुशासन नहीं रहता।

श्रद्धावान् अधिकारीजनों के लिये परम तत्त्व का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

४

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

मया ततम्, इदम्, सर्वम्, जगत्, अव्यक्तमूर्तिना,
मत्स्थानि, सर्वभूतानि, न, च, अहम्, तेषु, अवस्थितः ।

इदम्=यह सर्वम्=सब, जगत्=जगत, मया=मुझ, अव्यक्तमूर्तिना=अव्यक्त से, ततम्=परिपूर्ण है, च=और, सर्वभूतानि=सब प्राणी, मत्स्थानि=मुझमे स्थित है, अहम्=मै, तेषु=उनमे न=नही, अव्यवस्थित=स्थित हूँ ।

अव्यक्त अपने रूप से जग व्याप्त मैं करता सभी ।
मुझमें सभी प्राणी समझ पर मैं नहीं उनमें कभी ॥

अर्थ—यह सब जगत मुझ अव्यक्त से परिपूर्ण है और सब प्राणी मुझमें स्थित हैं, मै उनमें स्थित नहीं हूँ ।

व्याख्या—राजविद्या का प्रारम्भ आध्यात्मिक ज्ञान से होता हे । आत्मा और शरीर का सम्बन्ध जिस प्रकार है, उसी प्रकार परमेश्वर और जगत् का सम्बन्ध है। अव्यक्त परमेश्वर से जगत् के जीव चराचर का विस्तार हुआ है । यहाँ जो कुछ है, उसमे परमेश्वर व्याप्त है—उसी प्रकार जैसे शरीर के अंगों, अवयवों और रोम-रोम मे अव्यक्त आत्मा है ।

जल में रस, आकाश में ध्वनि, वेदों में ओंकार, पुरुष में पौरुष, सूर्य-चन्द्र में प्रभा आदि रूपों से वह अव्यक्त ब्रह्म सर्वत्र स्थित है।

अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म भाव से वह परम पुरुष सम्पूर्ण जगत् में समाया हुआ है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, हिरण्यगर्भ, सूर्य, चन्द्र, वैश्वानर, पृथिवी आदि रूप में और अमृतात्मा, अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, तैजसात्मा, वैश्वानरात्मा तथा शरीर भाव में भी वही है—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

'यह जो कुछ है सारा संसार चराचर।
कर रहा व्याप्त सबको ही वह परमेश्वर॥'

परमेश्वर के इस व्यापक भाव को समझ लेने में सद्भावना, सद्विचार, सद्व्यवहार और सबसे सहयोग सहजभाव से हो जाता है।

परमेश्वर के अव्यक्त रूप में जगत् स्थित है, भला-बुरा सब उसमें है। जो जैसा देखता है, वैसा पाता है। एक महान् अचरज यह है कि परमेश्वर में सब कुछ है परन्तु परमेश्वर किसी में नहीं है।

'मैं किसी में नहीं हूँ' इसका इतना ही अभिप्राय है कि किसी एक में रहकर परमेश्वर की शक्ति व्यय नहीं हो जाती—वह अव्यय है, कहीं बँधा नहीं है। परमेश्वर को कोई संसर्ग-दोष नहीं छूता। आकाश की भांति वह सूक्ष्म भाव से सर्वव्यापी है।

मनुष्य जहाँ दृढ़ता, विश्वास, सत्य, श्रद्धा और प्रेम से देखता है वहीं उसे सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला परमेश्वर मिलता है। वह यहाँ है इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी सर्वत्र है। इस उदार और व्यापक दृष्टि से कर्म करनेवाला भ्रम में नहीं पड़ता और सदा अनासक्त रहता है। अनासक्त होकर कर्म करना ही दैवी योग है—

५

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

न, च, मत्स्थानि, भूतानि, पश्य, मे, योगम्, ऐश्वरम्,
भूतभृत्, न, च, भूतस्थः, मम, आत्मा, भूतभावनः ।

च=और, भूतानि=सब प्राणी, मत्स्थानि=मुझमे स्थित, न=नहीं है, मे=मरे, योगम्=याग, ऐश्वरम्=ऐश्वर्य को पश्य=देख, भूतभावन=भूतो को उत्पन्न करनवाला, भूतभृत=भूतो का धारण-पोषण करनेवाला (होकर), च=भी, मम=मेरा, आत्मा=आत्मा, भूतस्थ=भूतो मे स्थित न=नही है ।

मुझमें नहीं है भूत देखो योग-शक्ति-प्रभाव है ।
उत्पन्न करता पालता उनसे न किन्तु लगाव है ॥

अर्थ—और सब प्राणी मझमें स्थित नहीं है, मेरे योग ऐश्वर्य को देख, भूतो को उत्पन्न करनवाला, भूतो का धारण-पोषण करनेवाला होकर भी मेरा आत्मा भूतो में स्थित नहीं है ।

व्याख्या—परमेश्वर सबमे व्याप्त रहता हुआ भी किसी मे लिप्त नहीं है, किसी के स्पर्श मे नहीं आता । इसी अपनी अलौकिक और अनासक्त योग-शक्ति से वह प्राणीमात्र का पालन-पोषण करता है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मतत्त्व का निरूपण करते हुए कहा है—

'वह अगृह्य है, शीर्ण नहीं होता, असंग और असित है, वह व्यथित और हिंसित नहीं होता।'

'असंगो न हि सज्जते।' (बृह० ३। ६। २६)

संसर्ग-रहित आत्मा कहीं लिप्त नहीं होता।

जो लिप्त नहीं होता वह किसी में नहीं रहता, यद्यपि उसीसे अंग-अंग में तेज, ओज और जीवन है। उसमें कोई नहीं रहता यही उसकी अलौकिकता है। शरीर में आत्मा है परन्तु आत्मा में शरीर नहीं है। जैसे दर्पण में प्रतिविम्व है, उसी प्रकार परमेश्वर में सृष्टि की प्रतीति होती है।

परमेश्वर से जगत् और सारे प्राणियों की स्थिति है। परमेश्वर के आधार पर सव टिके हुए हैं, परमेश्वर किसी के आधार पर नहीं है। परमेश्वर सवको शक्ति देता है, वह किसी की शक्ति और सहायता पर निर्भर नहीं है। प्राणी उसकी सहायता पर निर्भर है परन्तु कर्म करने में स्वतन्त्र हैं।

परमेश्वर, गुण और इन्द्रियों का विषय नहीं है, सवमें है और सवसे अलग है। करके भी वह कुछ नहीं करता।

नारद को एक वार परमेश्वर के इस योग के ऐश्वर्य को देखने की इच्छा हुई। नारद द्वारकापुरी जा पहुँचे। उन्होंने अत्यन्त सुन्दर और सुसज्जित महल में श्रीकृष्ण को रुक्मणि के साथ वैठे देखा। श्रीकृष्ण ने उनका स्वागत-वन्दन किया। वहाँ से चलकर नारद दूसरे महल में गये। वहाँ भी उन्होंने श्रीकृष्ण को देखा और श्रीकृष्ण ने पूर्ववत् स्वागत किया। नारद जी जहाँ-जहाँ गये तहाँ-तहाँ

उन्होंने श्रीकृष्ण को देखा—कहीं स्नान की तैयारी करते हुए, कहीं पञ्च महायज्ञों से देवाराधन करते हुए, कहीं ध्यान-जप मे बैठे हुए, कहीं शस्त्र-अस्त्र चलाने का अभ्यास करते हुए, कहीं मन्त्रियों के साथ विचार-परामर्श करते हुए, कहीं गउओं की सेवा करते हुए और कहीं रनवास मे बैठे हुए।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के विराट और दिव्य कर्मों को देखकर नारद विस्मित होगये। श्रीकृष्ण ने माया का प्रभाव हटाया, तभी नारद ने उनका निर्लेप स्वरूप देख पाया।

परमेश्वर मे प्रपञ्च-जगत् नहीं है। जो छल कपट-रहित निर्विकार हो जाता है, वह लहर की भाति अनन्त-सिन्धु रूप भगवान् मे मिल जाता है।

गोपियों ने रास-लीला करते हुए अपने बीच मे श्रीकृष्ण को समझा था, परन्तु श्रीकृष्ण उनसे दूर कहीं ध्यानावस्थित थे।

राजविद्या का परम ज्ञान परमेश्वर के इस महायोग का जगत् मे प्रत्यक्ष दर्शन कराता है। जो असग अथवा निर्लेप होकर देखते है, उन्हें ईश्वरीय योग का ऐश्वर्य घट-घट मे दृष्टिगोचर होता है। वह जान लेता है कि आत्मारूप परमेश्वर सर्वत्र कार्य कर रहा है, उसके विना प्राणी की दुर्गति होती है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने मनुष्य को सावधान करते हुए कहा है कि आत्मा रूप परमात्मा हमसे अलग हो जाय तो इस शरीर को पक्षी चोंच मार-मारकर चिथडा कर डालें और पशु नोच-नोचकर माँस खा जायें। (बृह० ३।६।२५)

परमेश्वर के विना ससार मे किसी की स्थिति नहीं है, वह कहीं एक स्थान पर नहीं है—सर्वत्र व्याप्त है—

६

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

यथा, आकाशस्थितः, नित्यम् , वायुः सर्वत्रगः, महान् ,
तथा, सर्वाणि, भूतानि, मत्स्थानि, इति, उपधारय ।

यथा=जैसे, सर्वत्रगः=सर्वत्र विचरनेवाला, महान्=महान्, वायुः=वायु, नित्यम्=सदा ही, आकाशस्थितः=आकाश में स्थित है, तथा=उसी प्रकार, सर्वाणि=सम्पूर्ण, भूतानि=भूत, मत्स्थानि=मुझमें स्थित हैं, इति=ऐसा, उपधारय=जान ।

सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भांति से ।
मुझमें सदा ही हैं समझ सब भूतगण इस भांति से ॥

अर्थ—जैसे सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं ऐसा जान ।

व्याख्या—सब प्राणियों की स्थिति विश्वरूप परमेश्वर में है । परमेश्वर सबका एकमात्र आश्रय है परन्तु उसे किसी के गुणों और दोषों से कोई प्रयोजन नहीं । जिस प्रकार अनासक्त स्वभाववाले व्यापक और विराट् आकाश में वायु नित्य रहता है—आकाश को उससे कोई प्रयोजन नहीं । आँधी में भी आकाश रहता है और शीतल वसन्त की वायु में भी रहता है, किसी भी अवस्था में उसका अभाव

नहीं होता; इसी प्रकार परमेश्वर का निर्विकारी, निर्लेप शुद्ध स्वरूप है। प्राणियों के घटने-बढ़ने, उत्पन्न होने और नष्ट होने का परमेश्वर पर किञ्चिन्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता।

परमेश्वर सबका अन्तरात्मा है। आकाश में जैसे वायु रहता है; इसी प्रकार सब प्राणी परमेश्वर में स्थित हैं, परन्तु उसे किसी से कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रायः मनुष्य अपने गुण और दोष परमेश्वर के माथे मढ़ते हैं और कुकर्म करके भी यह कहकर बचना चाहते हैं कि करने-करानेवाला परमेश्वर है। वास्तव में परमेश्वर को किसी की अच्छाई-बुराई से कोई प्रयोजन नहीं। शुभ कर्म करनेवाला निर्मल और स्वच्छ वसन्त की वायु के समान आकाश में विचरता है, उसकी निर्मलता के कारण आकाश निर्मल दीखता है, आँधी अपने मैल और विकारों को लेकर साँय-साँय करती हुई बड़े वेग और व्याकुलता से दौड़ती है, उसके बवंडर में आकाश मैला और आच्छादित दिखता है, ठीक इसी प्रकार परमेश्वर का दर्शन होता है। निर्मल, शीलवान्, स्वच्छ स्वभाववाले प्राणी, निर्मल आकाश की भांति परमेश्वर को देखते हैं। जिनमें विषय-विकारों की आँधी उठती है, आलस्य, प्रमाद और अज्ञान का अंधेरा रहता है, वे स्वयं ही अपने अशान्त वेगों से परमेश्वर को ढक देते हैं—परमेश्वर प्रत्येक स्थिति में निर्लेप और एक रस रहता है।

जिस प्रकार आकाश में वायु चलती-फिरती है; उसी प्रकार परमेश्वर में सब प्राणी।

परमेश्वर में सब रहते हैं, परमेश्वर से सब हैं और परमेश्वर में ही सबको मिलना है—

७

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

सर्वभूतानि, कौन्तेय, प्रकृतिम्, यान्ति, मामकाम्,
कल्पक्षये, पुनः, तानि, कल्पादौ, विसृजामि, अहम् ।

कौन्तेय=हे कौन्तेय, कल्पक्षये=कल्प के अन्त में, सर्वभूतानि=सब भूत, मामिकाम्=मेरी, प्रकृतिम्=प्रकृति में, यान्ति=लय हो जाते हैं (और) कल्पादौ=कल्प के आदि में, अहम्=मैं, तानि=उन्हें, पुनः=फिर, विसृजामि=रच देता हूँ ।

कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी ।
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हें रचता तभी ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! कल्प के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं और कल्प के आदि में मैं उन्हें फिर रच देता हूँ ।

व्याख्या—जल से जैसे हिम बनता है और फिर हिम का जल बन जाता है; इसी प्रकार प्राणिमात्र परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं और परमेश्वर में ही लय हो जाते हैं। कल्प का साधारण अर्थ—ब्रह्मा का दिन है। (आठवें अध्याय के १७ वें श्लोक में सविस्तार व्याख्या देखिये।)

ब्रह्मा की आयु के सौ वर्ष पूरे होने पर कल्प का अन्त होता है। कल्प के अन्त में सारे प्राणी परमेश्वर की प्रकृति में मिल जाते हैं और कल्प के आरम्भ में परमेश्वर सबको प्रकट कर देता है।

शब्द कोषों मे कल्प का अर्थ—न्याय, शास्त्र, योग-क्रिया, विधि, यज्ञ-विद्या, सामर्थ्य आदि किया गया है।

कल्पो न्याय—जब न्याय का प्रारम्भ होता है और परमेश्वर न्यायानुसार मनुष्य को कर्म का फल देता है तब न्याय और नियम से जगत् की उत्पत्ति होती है। न्याय का अन्त होते ही मनुष्य धर्माचरण से गिर जाते हैं, पवित्र नियम टूट जाते है, तभी कल्पान्त अर्थात् प्रलय होती है। ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों से मनुष्य जितना दूर जाता है, उतना ही विनाश के पास पहुँचता है।

नीति की घोषणा है—'अन्यायोपार्जित द्रव्य समूलञ्च विनश्यति।'

अन्याय से कमाया हुआ द्रव्य मूल-सहित विनाश कर देता है। विनाश को निमन्त्रण देनेवाला अन्याय है।

कल्प पवित्र नियम सामर्थ्यञ्च—पवित्र नियमों और सामर्थ्य को 'कल्प' कहते है। ईश्वरीय सामर्थ्य और नियमों से जगत् की स्थिति है। ईश्वरीय नियमों को तोड़नेवाला ईश्वर की सामर्थ्य से टकराकर नष्ट हो जाता है।

कल्पो यज्ञविद्या कल्प, यज्ञ-विद्या को कहते है। मानवमात्र की समुन्नति और समृद्धि यज्ञ के साथ जुडी हुई है। यज्ञ-भाव से परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सत्य, सेवा, सद्व्यवहार, दया, धर्म, दानादि शुभ कर्मों का क्रम नहीं टूटता। यज्ञ के आरम्भ से सृष्टि की रचना होती है और यज्ञ-कर्मों का अन्त होते ही विनाश हो जाता है।

परमेश्वर ने मनुष्य को सुख, शान्ति, आनन्द और मुक्ति प्राप्त करने के लिये जन्म दिया है। यदि वह इन्हें प्राप्त नहीं करता तो उसे विनाश के मुख मे जाना पड़ता है और फिर अपना कर्म पूरा करने के लिये आना पड़ता है। प्रकृति और परमेश्वर के नियम अटल हैं। परमेश्वर अपने नियमों की रक्षा करता है—

८

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

प्रकृतिम्, स्वाम्, अवष्टभ्य, विसृजामि, पुनः, पुनः,
भूतग्रामम्, इमम्, कृत्स्नम्, अवशम्, प्रकृतेः, वशात् ।

स्वाम्=अपनी, प्रकृतिम्=प्रकृति को, अवष्टभ्य=वश में करके, (मैं) प्रकृतेः=स्वभाव के, वशात्=वश से, अवशम्=परतन्त्र हुए, इमम्=इस, कृत्स्नम्=सम्पूर्ण, भूतग्रामम्=भूत समुदाय को, पुनः पुनः=वारम्वार, विसृजामि=रचता हूँ ।

अपनी प्रकृति आधीन कर, इस भूत गण को मैं सदा ।
उत्पन्न वारम्वार करता, जो प्रकृति वश सर्वदा ॥

अर्थ—अपनी प्रकृति को वश में करके (मैं) स्वभाव के वश से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को वारम्वार रचता हूँ ।

व्याख्या—जगत् में जो कुछ हो रहा है वह सब मनुष्य के कर्म का प्रत्यक्ष फल है। परमेश्वर अपनी मूल-प्रकृति को आधीन करके जीव-जगत् की उन्नति के लिये सृष्टि की रचना करता है। प्राणी, अपनी प्रकृति अथवा माया के वश में होकर परमेश्वर को भूल जाता है—ऋत और सत्य अर्थात् प्राकृतिक और नैतिक नियमों के विरुद्ध कर्म करता है; उसका कर्म उसे वाँध लेता है और वल-पूर्वक संसार में खींच लाता है। कर्मों के अनुसार जन्म देनेवाला परमेश्वर है। परमेश्वर मनुष्य को जन्म देकर वल, वुद्धि और कर्म-शक्ति देता है, परन्तु उसके भले-वुरे में लिप्त नहीं होता—

९

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥

न, च, माम्, तानि, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनंजय,
उदासीनवत्, आसीनम्, असक्तम्, तेषु, कर्मसु ।

धनजय=हे धनजय, तेषु=उन, कर्मसु=कर्मो मे, असक्तम्=अनासक्त, च=और, उदासीनवत्=उदासीन के समान, आसीनम्=स्थित हुए, माम्=मुझको तानि=वे, कर्माणि=कर्म, न=नही, निबध्नन्ति=बांधते ।

बंधता नहीं हूँ पार्थ ! मैं इस कर्म-बन्धन में कभी ।
रहकर उदासी-सा सदा आसक्ति तज करता सभी ॥

अर्थ—हे धनंजय ! उन कर्मों में अनासक्त और उदासीन के समान स्थित हुए मुझको वे कर्म नहीं बांधते ।

व्याख्या—गुण और स्वभाव के अनुरूप प्राणी स्वतन्त्र और परतन्त्र होता है। संसार की विषमता का कारण मनुष्य की प्रकृति है। मनुष्य कर्मों में जितना अधिक लिप्त होता है, उतना ही बन्धन में पड़ता है। प्रायः दुःखों से घिर जाने पर अथवा लाचारी की अवस्था में मनुष्य कहता है कि करनेवाला परमेश्वर है, जैसा वह चाहता है वैसा होता है।

अपने-आपको परमेश्वर की इच्छा पर छोड़ देनेवाले, अपनी आत्मा में स्थित हो जाते हैं। आत्मा रूप परमेश्वर के अकर्ता रूप को जानकर आत्म-ज्ञानी आत्मा में स्थित होकर कर्म करते हैं, उनसे जाने अथवा अनजाने में कोई पाप नहीं होता। अतः वे किसी वन्धन में नहीं वंधते।

जो अपनी ही इच्छाओं और वासनाओं से प्रेरित होकर कर्म करते हैं, फल की कामना में बुरी तरह वँध जाते हैं, वे मन चाहा फल न पाकर परमेश्वर को दोष देते हैं और अपनी इच्छा से परमेश्वर की इच्छा को वलवान् स्वीकार करते हुए भी परमेश्वर के प्रति आत्म-समर्पण नहीं करते।

प्राणी अपने ही मायाजाल में फँसा रहता है। परमेश्वर पाप-पुण्य से ऊपर माया से मुक्त रहता है, अतः परमेश्वर कर्म के वन्धन में नहीं वंधता।

माया-जाल अथवा कर्म के वन्धन से छूटने के दो उपाय हैं—

१—उदासीन रहकर कर्म करना।

२—अनासक्त होकर कर्म करना।

१. उदासीन—

शत्रु-मित्र, अनुपकारी-उपकारी, पक्ष-विपक्ष आदि किसी का भी पक्ष न लेनेवाले को 'उदासीन' कहते हैं। जो किसी के कर्मों से कोई प्रयोजन नहीं रखता, वह उदासीन कहा जाता है। सूर्य जैसे सब पर सम भाव से अपना प्रकाश फैलाता है, वैसे ही उदासीन पुरुष ममता को छोड़कर समता से कर्म करता है।

उदासीन पुरुष सदा निरपेक्ष रहता है। वह जानता है कि जगत् में सबको उन्नति करने के समान अधिकार हैं, सब अपनी रुचि अथवा स्वभाव से धर्म-कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। उदासीन पुरुष

अपने विचारों को जबर्दस्ती किसी पर नहीं लादता। उदासीन मनुष्य से किसी को दु:ख देने का कर्म नहीं होता, अतः वह भी किसी से दु:ख नहीं पाता। उदासीन सदा सुखी और स्वतन्त्र रहता है। द्वेष और घृणा के भाव उदासीन की शक्ति और उदारता को पराजित करने में असमर्थ रह जाते हैं।

२. अनासक्त—

अनासक्ति गीता की महाशक्ति है। आत्मा के लिये, परमात्मा के लिये अथवा विश्व पुरुष के लिये किये हुए कर्म को अनासक्त कर्म कहते हैं। इन्द्रिय-सुखों, भोगों और स्वार्थ-कामनाओं की पूर्ति के लिये किये गये कर्म को आसक्त पुरुष का कर्म कहते हैं। आसक्त पुरुष को राग-द्वेष, अहंकार, अज्ञान और अनेक विकार घेरते हैं। अनासक्त पुरुष में प्रेम, सेवा, सत्य, सद्भाव आदि सद्गुणों का स्रोत उमड़ता है। अनासक्त पुरुष के कर्म प्रसन्नता से भरे रहते हैं, शक्ति को क्षीण करनेवाले पाप तथा दोष पूर्ण कर्म से वह दूर रहता है और उसके कर्म परमेश्वर की पूजा बन जाते हैं।

जो उदासीन और अनासक्त होकर कर्म करता है, वह लोक-दृष्टि में चरित्रवान् और सम्माननीय माना जाता है। आध्यात्मिक जगत् में ऐसा पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता है।

परमेश्वर उदासीन और अनासक्त रहकर उत्पत्ति, पालन और संहार का कार्य करता है; इसी कारण वह किसी बन्धन में नहीं बंधता। सत्य-निष्ठ होकर कर्तव्य-पालन करनेवाला सदा मुक्त रहता है।

कर्तापन का अभिमान छोड़कर जो भोगों, पदार्थों, राग-द्वेषों और दुर्गुणों की उपेक्षा करता है वह किसी बन्धन में नहीं बँधता। उसकी उपस्थिति में सुचारु रूप से कर्म-चक्र स्वयं ही चलता रहता है।

१०

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

मया, अध्यक्षेण, प्रकृतिः, सूयते, सचराचरम् ,
हेतुना, अनेन, कौन्तेय, जगत् , विपरिवर्तते ।

कौन्तेय=हे कौन्तेय, मया=मेरी, अध्यक्षेण=अध्यक्षता में, प्रकृतिः=प्रकृति, सचराचरम्=चराचर सहित जगत् की, सूयते=रचना करती है, अनेन=इस, हेतुना=कारण से, जगत्=जगत्, विपरिवर्तते=आवागमन के चक्र में घूमता है।

अधिकार से मेरे प्रकृति रचती चराचर विश्व है ।
इस हेतु फिरकी की तरह फिरता बराबर विश्व है ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर सहित जगत् की रचना करती है इस कारण से जगत् आवागमन के चक्र में घूमता है।

व्याख्या—जड़ और चेतन के संयोग से सृष्टि का सञ्चालन होता है। प्रकृति जड़ है और ब्रह्म चैतन्य। चैतन्य ब्रह्म केवल अध्यक्ष होकर प्रकृति के सब कर्मों को देखता है। जिस प्रकार किसी सभा का प्रधान निरपेक्ष, निष्पक्ष और निर्लेप होकर सभा का कार्य देखता है और उसकी अध्यक्षता में सम्पूर्ण कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है, उसी प्रकार परमेश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति का कार्य होता है। परमेश्वर देख रहा है, इसीलिये जगत् में नित्य नये-नये परिवर्तन होते हैं। परमेश्वर न देखे तो संसार जड़ता से भर जाय।

साधारण जीव साधारण आँख से जगत् को देखते हैं, उनका जगत् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गुरुजन, नेता आदि महानुभाव अपने तप, त्याग और ज्ञान के द्वारा पवित्र हुई दृष्टि से जगत् को देखते हैं उनका प्रभाव पड़ता है, जगत् उनसे स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करता है। अध्यक्ष के आते ही सभा में शान्ति हो जाती है। अध्यापक के प्रवेश करते ही विद्यार्थी सावधानी से बैठ जाते हैं। जिसका जितना तप और विकास होता है उतना ही प्रभाव पड़ता है।

छोटा-सा दीपक हल्का-सा प्रकाश करता है। बिजली अपनी शक्ति के अनुसार प्रकाश फैलाती है। सूर्य सर्वत्र प्रकाश फैलाता है। यदि सूर्य न देखे तो पर्जन्य न बनें। पर्जन्य न बनने से जल न बरसे, अन्न न हो और संसार-चक्र न चल सके। सूर्य के देखते ही फूल खिल जाते हैं, पक्षी कलरव कर उठते हैं, जीवन जाग जाता है और मनुष्य अपने-अपने कर्म में लग जाते हैं, इस प्रकार सूर्य की अध्यक्षता में जगत् चलता है और नित्य नूतन परिवर्तन होते हैं।

परमेश्वर ने अनेक सूर्य और ब्रह्माण्डों की रचना की है। सूर्य में उस परम पुरुष का प्रकाश है। उसकी अध्यक्षता में सूर्य और चन्द्र नियम से चलते हैं। वह देख रहा है—इसीलिये प्रकृति में नियम और गति है। सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ हलचल और परिवर्तन हैं, वह केवल इसीलिये कि परमेश्वर सबको देख रहा है।

प्रकृति निष्पक्ष होकर परमेश्वर की अध्यक्षता में निरन्तर कर्म करती है। गुणों और तत्त्वों के अनुसार सर्वत्र कार्य होता है। 'जो जैसा बोता है वैसा फल पाता है'—यह नियम अटल है। इस नियम को न जाननेवाले अथवा इसकी अवहेलना करनेवाले परमेश्वर के महाभाव को नहीं जान पाते।

११

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

अवजानन्ति, माम्, मूढाः, मानुषीम्, तनुम्, आश्रितम्,
परम्, भावम्, अजानन्तः, मम, भूतमहेश्वरम् ।

मम=मेरे, परम्=परम, भावम्=भाव को, अजानन्तः=न जाननेवाले, मूढाः=मूढ़जन, मानुषीम्=मनुष्य का तनुम्=शरीर, आश्रितम्=धारण करनेवाले, भूतमहेश्वरम्=सब प्राणियों के महान् परमेश्वर (रूप), माम्=मेरा, अवजानन्ति=अनादर करते हैं ।

मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहिं जानके ।
करते अवज्ञा जड़, मुझे नर-देहधारी मानके ॥

अर्थ—मेरे परम भाव को न जाननेवाले मूढ़जन मनुष्य का शरीर धारण करनेवाले सब प्राणियों के महान् ईश्वर (रूप) मेरा अनादर करते हैं ।

व्याख्या—परमात्मा को साक्षात् कौन जानता है ? कौन कह सकता है, वह कहाँ से आया और इस सृष्टि की रचना कैसे हुई ?

श्रुतियों में इसका स्पष्ट उत्तर है—

'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् ।' (तै० ब्रा० २।८।९)

इस जगत् का अध्यक्ष वह परमपुरुष हृदय-आकाश में स्थित है । मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है । वह परमपुरुष सबका

ईश्वर मनुष्य-देह मे साक्षात् निवास करता है। परन्तु मूढ़जन इस रहस्य को नहीं जान पाते।

परमेश्वर की शक्ति, प्रभाव और उपस्थिति को न जाननेवाले मूढ़ कहे जाते हैं। मूढजनों का ज्ञान, अज्ञान से ढका रहता है, वे माया-ममता के मोह मे फँसे रहते है। माया से मोहित मूढ़जनों की सृष्टि अव्यवस्थित विषम और दु खपूर्ण रहती है। मनुष्य जब मनुष्य का अनादर करता है तब वह परमात्मा का ही अनादर करता है। अवज्ञा-भाव बढ़ जाने से कोई किसी को बड़ा नहीं मानता, अध्यक्ष, नेता, गुरु और प्रमुख का मान भंग होने लगता है, वयोवृद्ध ज्ञानी और पथ-प्रदर्शक की बात न मानने से अराजकता फैलती है, सब मनमाने कर्म करने लगते है, परिवार, समाज और राष्ट्र की व्यवस्था बिगड़ जाती है।

मनुष्य रूप मे परमेश्वर चलता-फिरता, बोलता और कर्म करता है। जो जितना महान् है, तप और ज्ञान से पवित्र है, उसमे उतने ही अधिक अंशों मे परमेश्वर रहता है।

परमेश्वर प्रत्येक प्राणी मे है। उसकी अध्यक्षता मे—उसकी आज्ञानुसार नियम से कर्म करनेवाले मे, वह साक्षात् रूप से प्रकट हो जाता है। अवहेलना करनेवाले मे भी वह रहता है, परन्तु अपनी मूढता के कारण जीव उस परमेश्वर को नहीं जान पाते।

सर्वलोक-महेश्वर का यही परम भाव है कि वह सर्वत्र है। जहाँ जो उसे मानता है, वहीं वह मिलता है, उसके कर्म दिव्य हैं, सेवा, सत्य और प्रेममय कर्म करनेवाले के लिये परमेश्वर का कहीं अभाव नहीं होता। जिनका स्वभाव माया-ममता से मोहमय बन जाता है, वे परमेश्वर के परम भाव को नहीं जानते।

१२

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

मोघाशाः, मोघकर्माणः, मोघज्ञानाः, विचेतसः, राक्षसीम्, आसुरीम् , च, एव, प्रकृतिम् , मोहिनीम् , श्रिताः ।

मोघाशा:=व्यर्थ आशा, मोघकर्माणः=व्यर्थ कर्म, (और) मोघज्ञाना:=व्यर्थ ज्ञानवाले, विचेतसः=विचारहीन जन, मोहिनीम्=मोहनेवाले, राक्षसीम=राक्षसी, च=और, आसुरीम्=आसुरी, प्रकृतिम्=स्वभाव को, एव=ही, श्रिताः=धारण किये होते हैं ।

चित्त भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किये ।
वे आसुरी अति राक्षसीय स्वभाव मोहात्मक लिये ॥

अर्थ—व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म (और) व्यर्थ ज्ञानवाले, विचारहीन जन, मोहनेवाले राक्षसी और आसुरी स्वभाव को ही धारण किये होते हैं ।

व्याख्या—परमेश्वर का भाव एक उदार, प्रेममय, सेवामय और पवित्र वातावरण बना देता है। संस्कृति-सभ्यता की प्रेरणा तथा मान, भय, नियम आदि के बन्धनों के कारण मनुष्य, न्यायाधीश की उपस्थिति में अन्याय नहीं करता, गुरुजनों की उपस्थिति में कोई अनुचित कृत्य नहीं करता, अपने से बड़ों को देखकर सावधान हो जाता है और सभ्य पुरुषों की उपस्थिति में यथा योग्य कर्म करता है।

इससे ऊपर उठा हुआ मानव, सर्वत्र परमेश्वर को उपस्थित जानकर सदा सावधानी से सत्कर्म करता है। सत्कर्म करने का प्रयत्न न करनेवाला यदि अपने को आस्तिक कहता है, तो वह मिथ्याचारी है और जो नैतिक बन्धनों को तोड़कर श्रेष्ठजनों तथा परमेश्वर की अवहेलना करता है, वह माया-मोहित आसुरी स्वभाववाला है।

भस्मासुर की भांति अभिमानी और आसुरी प्रकृतिवाले पर-पीड़ा और विषय-भोगों में ही आसक्त रहते हैं। वे परमेश्वर से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, अपने अहंकार के हाथों से शिव को भस्म कर देना चाहते हैं। परमेश्वर मोहिनी रूप से ऐसे आसुरी जनों का ज्ञान, बुद्धि और बल हर लेते हैं। असुरजनों का मोह ही उन्हें भस्म कर देता है। वास्तविकता, सत्य और आत्म-स्वरूप को न देखनेवाले स्वभाव को मोहनी प्रकृति कहते हैं।

मोह में पड़े हुए आसुरी स्वभाववालों के लक्षण इस प्रकार हैं—

१—व्यर्थ आशाओंवाले।

२—व्यर्थ कर्मोंवाले।

३—व्यर्थ ज्ञानवाले।

४—विचार-हीन।

१. व्यर्थ आशाओंवाले—

जीवन का पतन करनेवाली आशायें व्यर्थ कही जाती हैं। विषय, भोग-विलास और इन्द्रिय-सुखों की आशा मनुष्य को जकड़ कर काल के खूंटे से बाँध देती है। स्वार्थ-पूर्ण अथवा वृथा आशावालों को आनन्द और मुक्ति के मार्ग नहीं मिलते।

आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ (गी० १६।१२)

आशा-पाशों में जकड़े हुए, काम-क्रोध में निरत आसुरीजन सुख-भोगों के लिये अन्याय और छल से अर्थ-सञ्चय में लगे रहते हैं।

मिथ्या-आशाओं का कभी अन्त नहीं होता। मनुष्य की अभिलाषा पूर्ण करनेवाले परमेश्वर के दिव्य भावों और दिव्य कर्मों से दूर रहने के कारण मिथ्या-आशायें कभी पूरी नहीं होतीं।

वृथा आशायें मनुष्य को पतन के गर्त्त में गिरा देती हैं। व्यर्थ आशाओं से कर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं।

२. व्यर्थ कर्मोंवाले—

जिन कर्मों से जीव-जगत् सुखी और सम्पन्न बनता है, दैवी भावों का प्रसार होता है और सेवा, सत्य तथा प्रेममय जीवन बनता है उन्हें साथेक कर्म कहते हैं। जिन कर्मों से दुःख, हिंसा, भयंकरता, अशान्ति, रोग, दरिद्रता, घृणा, राग-द्वेष, असत्यता, अपवित्रता, माया, मोह-ममता आदि आसुरी भावों की वृद्धि होती है, वे निरर्थक कर्म कहे जाते हैं।

मिथ्या-आशा में बँधा हुआ मनुष्य निरर्थक कर्म करता है; ब्रह्म, शास्त्र, गुरुजन, नेता, माता-पिता तथा विद्वानों में उसका विश्वास नहीं रहता और स्वार्थ-सिद्धि के लिये इधर-उधर भटकता है। इसी कारण उसका ज्ञान व्यर्थ हो जाता है।

३. व्यर्थ ज्ञानवाले—

ज्ञान, उन्नति का सोपान है। 'ज्ञानान्मुक्तिः' ज्ञान ही मुक्ति है और ज्ञान से मुक्ति है। परन्तु जिस ज्ञान का उपयोग स्वार्थ-साधना और भोग-विलासों की पूर्ति के लिये होता है, वह व्यर्थ है।

संहार-कर्म करनेवाले ज्ञानी-विज्ञानी जन, मानवमात्र को संकट में डाल देते हैं। रावण जैसे महाज्ञानी पण्डित ने अपने ज्ञान से घोर

कर्मों का समर्थन किया था, अतः उसका ज्ञान व्यर्थ होगया।

अनेक ज्ञानीजन स्वतन्त्र विचारक न होने के कारण विधि और निषेध आदि रूढ़िवादी नियमों की उलझन में ही जीवन खो देते हैं और कभी संकुचित सीमाओं को लाँघकर परमेश्वर के व्यापक और उदार क्षेत्र में नहीं जाते। अत. उनका ज्ञान सद्विचारों को जन्म नहीं देता। मिथ्या ज्ञानवाले पुरुष में विचार करने की शक्ति नहीं रहती।

४. विचार-हीन—

जीवन पर विचारों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। निरुद्ध चित्त-वृत्ति और संयमित विचार मनुष्य को अपरिमित बल प्रदान करते हैं। बालक राम ने सद्विचारों के महाबल से ताड़का का संहार किया, श्रीकृष्ण ने अपनी विशाल बाहों के कोमल बल से ही कुवलयापीड़ हाथी को गिरा दिया। संयत बल मनुष्य को महान् बनाता है।

बिना विचारे करने का फल पछतावा है। विचार-हीन पर जगत् हँसता है और उसे कभी चैन नहीं मिलता।

मनुष्य यौवन की आँधी और अहम् के आवेश मे प्रमत्त होकर न जाने कितने कर्म बिना विचारे कर डालता है। विचार-हीन के कर्म निरर्थक होते हैं, उसके कार्य किसी योजना से नहीं होते, वह सोच-विचार कर निश्चित कार्य-क्रम के अनुसार कर्म नहीं करता और जानबूझ कर विपत्तियों को बुलाता है। व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और विराट जीवन में उद्देश्य और विचार पर सफलता निर्भर होती है।

विचारवान् देवताओं की कोटि में बैठता है और विचार-हीन को कहीं स्थान तथा मान नहीं मिलता। विचार-हीनता आसुरी स्वभाव का प्रथम प्रतीक है। दैवी स्वभाववाले अथवा विचारवान् पुरुष 'महात्मा' कहे जाते हैं।

१३

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

महात्मानः, तु, माम्, पार्थ, दैवीम्, प्रकृतिम्, आश्रिताः, भजन्ति, अनन्यमनसः, ज्ञात्वा, भूतादिम्, अव्ययम् ।

तु=किन्तु, पार्थ=हे पार्थ, महात्मानः=महात्माजन, दैवीम्=दैवी, प्रकृतिम=प्रकृति के, आश्रिताः=आश्रित हुए, माम्=मुझे, भूतादिम्=सब प्राणियों का आदिकारण, (और) अव्ययम्=अव्ययस्वरूप, ज्ञात्वा=जानकर, अनन्यमनसः=अनन्य मन से, भजन्ति=निरन्तर भजते हैं ।

दैवी प्रकृति के आसरे बुध-जन भजन मेरा करें ।
भूतादि अव्यय जान पार्थ ! अनन्य मन से मन धरें ॥

अर्थ—परन्तु हे पार्थ ! महात्माजन दैवी प्रकृति के आश्रित हुए मुझे सब प्राणियों का आदि कारण (और) अव्यय स्वरूप जानकर अनन्य मन से निरन्तर भजते हैं ।

व्याख्या—आसुरी स्वभाव में व्यर्थ की आशायें पाँव पसारती हैं, निरर्थक कर्म होते हैं, ज्ञान मिथ्या हो जाता है, विचारों में बल नहीं रहता तथा चित्त भ्रष्ट हो जाता है। इसके विपरीत दैवी स्वभाववाले बुद्धिमान् कहे जाते हैं—उन्हीं को महात्मा कहा है। महात्मा का आत्मा महान् होता है, उनके विचार पवित्र और उदार होते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने महात्माओं के प्रति अपनी श्रद्धा के शब्द अर्पित करते हुए कहा है—

"जिनकी श्रद्धा के सद्भाव में धर्म राज्य करता है, जिनका मन विवेक का जीवन है, जो ज्ञान रूपी गंगा में नहाये हैं, पूर्णता-रूपी भोजन कर तृप्त हुए हैं, जो शान्ति रूपी वृक्ष में उत्पन्न हुए नूतन पल्लव हैं, जो ब्रह्मरूपी परिणाम के निकले हुए अंकुर हैं, जो धैर्य-मण्डप के खम्भे हैं, जो आनन्दरूपी समुद्र में डुबाकर भरे हुए कुम्भ हैं, जिनकी क्रीडाओं में भी नीति जाग्रत दिखायी देती है, जिन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियों में शान्ति के अलङ्कार पहने हैं, जिनका चित्त मुझ व्यापक का आच्छादन बन गया है, ऐसे जो महात्मा दैवी प्रकृति के भाग्य-रूप हैं, वे मुझे जानते हैं।"

परमेश्वर से सम्बन्ध करा देनेवाले स्वभाव को दैवी प्रकृति कहते हैं। दैवी प्रकृति मनुष्य को देव रूप बनाती है।

देवताओं के पथ पर चलने अथवा स्वभाव का रूपान्तर करके उसे दैवी बनाने का नाम भजन है। जो ऐसा भजन करता है, वह महात्मा है और जो महात्मा है, वह सदा भजन करता है।

परमेश्वर और मनुष्य का अनन्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को बनाए रखने के लिये अनन्य भाव से सब प्राणियों के आदिस्वरूप अव्यय और अनन्त शक्तिशाली परमेश्वर का भजन करना चाहिये।

जो परमेश्वर को सब प्राणियों का अधीश्वर, आश्रयदाता और आदिस्वरूप मानता है वह विश्व को परमेश्वर रूप जानता है और अनन्य मन से विश्व की सेवा, अर्चन, वन्दन, पूजन, भजन करता है। जहाँ विश्व है वहाँ विश्वपति है—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहाँ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥

जो इस प्रकार भगवान् को देखते हैं, उन्हें भगवान् देखते हैं। अनन्यता के कारण भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। महात्माजन कर्म करते हुए किसी भी क्षण परमेश्वर को नहीं भूलते।

१४

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

सततम्, कीर्तयन्तः, माम्, यतन्तः, च, दृढव्रताः,
नमस्यन्तः, च, माम्, भक्त्या, नित्ययुक्ताः, उपासते ।

दृढव्रताः=दृढ़व्रती (महात्माजन), माम्=मेरा, कीर्तयन्तः=कीर्तन करते हुए, च=और, यतन्तः=यत्न करते हुए, भक्त्या=भक्ति से, नित्ययुक्ताः=नित्ययुक्त होकर, च=तथा, माम्=मुझे, नमस्यन्त=नमस्कार करते हुए, (मेरी) उपासते=उपासना करते हैं ।

नित यत्न से कीर्तन करें दृढव्रत सदा धरते हुए ।
करते भजन हैं भक्ति से मम वन्दना करते हुए ॥

अर्थ—दृढ़व्रती महात्माजन मेरा कीर्तन करते हुए और यत्न करते हुए, भक्ति से नित्ययुक्त होकर तथा मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ।

व्याख्या—जिनकी बुद्धि का निश्चय अडिग रहता है और जो दृढ़व्रतों को धारण करनेवाले हैं, वे ही परमेश्वर की उपासना करते हैं ।

पुरुषोत्तम से पुरुष का योग करानेवाली दृढ़ता है । संसार के प्रलोभन, मोह-ममता, राग-द्वेष तथा विषय-वासना जिसके पवित्र निश्चय को बदलने में समर्थ नहीं होते, उन्हें शिवरूप सर्वेश्वर परमेश्वर मिलते हैं । उमा ने अपनी दृढ़ता से शिव को प्राप्त किया था—

कोटि जनम लगि रगर हमारी।
बरहुँ सम्भु न तु रहहुँ कुआरी॥

दृढ़ता से की गयी उपासना से जीव और ब्रह्म का अटूट सम्बन्ध जुड़ जाता है। दृढ़ता कल्पवृक्ष के समान है। उसके नीचे बैठकर की गई कामना कभी अपूर्ण नहीं रहती। दृढ़ता के वृक्ष पर सफलता के मधुर फल लगते हैं।

महात्माजन यम-नियम आदि दृढ़व्रतों को धारण करके चार प्रकार से परमेश्वर की उपासना करते हैं—

१—सतत-कीर्तन करते हुए।

२—यत्न पूर्वक।

३—भक्ति से युक्त होकर।

४—नमस्कार करते हुए।

१. सतत-कीर्तन—

कीर्तन का साधारण अर्थ—गुणगान करना है। श्रेष्ठजन कर्मशील अथवा उन्नत मनुष्य भगवान् का निरन्तर भजन करते हैं। भक्ति सूत्र में—'अव्ययावृत्तभजनात्' अखण्ड भजन से भक्ति की साधना मानी गयी है। भजन भगवान् के साथ रहकर कर्म करने का एक श्रेष्ठतम अभ्यास है।

भजन का प्रारम्भ कीर्तन से होता है—

'लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्।'

(भक्ति सूत्र ३७)

लोक-समाज में भी भगवद् गुण श्रवण और कीर्तन से भक्ति, पूर्ण होती है।

संसार में सब प्रकार कर्म करते हुए निरन्तर प्रभु की वाणी

सुनना और उसके भाव तथा प्रभाव का स्मरण करना साँसारिक सफलता एवं जीवन्मुक्ति का सरल और श्रेष्ठ साधन है।

भजन-पूजन की सार्थकता और पूर्णता उसी समय होती है; जब मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ पवित्र शुभ तथा उच्च कर्मों में लग जाती हैं। कीर्तन का कार्य और प्रभाव इतना होना चाहिये कि जिस समय भी मनुष्य अनुचित, अशुभ अथवा विकारी पथ पर पैर रखे उसी समय उसके कानों से छनकर हृदय तक भगवान् की वाणी पहुँच जाय और उसे आत्मानन्द में निमग्न करके विषय रूपी विष की ओर न जाने दे।

कीर्तन तुरन्त सुख देनेवाला है कीर्तन का प्रत्यक्ष फल जीवन्मुक्ति है। मुक्ति पाँच प्रकार की प्रसिद्ध हैं—

१—सालोक्य = भगवान् के समान लोक-प्राप्ति।

२—सार्ष्टि = भगवान् के समान ऐश्वर्य-प्राप्ति।

३—सामीप्य = भगवान् के समीप स्थान-प्राप्ति।

४—सारूप्य = भगवान् के समान स्वरूप-प्राप्ति।

५—सायुज्य = भगवान् में लय हो जाना।

१. सालोक्य—

कीर्तन से पाँचों प्रकार की मुक्ति सुलभ हो जाती है। सब प्रकार के दुष्कर्मों और * नाम-अपराधों से बचा रहनेवाला निरन्तर

* निन्दा। भेदभाव। अपमान। द्वेष। प्रज्ञावाद। धर्म अथवा भगवन्नाम की ओट में दुष्कर्म। अपनी मान्यता को बड़ा और दूसरों की साधना को छोटा कहना। अश्रद्धा तथा अवहेलना के वातावरण में उपदेश सुनना या सुनाना। सुनकर धारण न करना। अहंकार, ममता और विषय-भोगों में आसक्त रहकर अपने को ज्ञानी या भक्त मानना—ये नाम अपराध हैं।

कीर्तन करता है। निरन्तर कीर्तन से यह लोक और परलोक दोनों सुखमय बन जाते हैं—यही सालोक्य मुक्ति है।

२. सार्ष्टि—

परमेश्वर के भाव तथा प्रभाव में निमग्न होकर सेवा, परमार्थ और सत्यमय कर्म करनेवाला परमेश्वर का सच्चा कीर्तन करता है। परमेश्वर बिना मांगे ही शुभ कर्मों का पुरस्कार देता है। महान् और पुण्य कर्मों के फल से अनन्त ऐश्वर्य मिलता है। परमेश्वर की कृपा से प्राप्त ऐश्वर्य में मद, ममता और मोह का नितान्त अभाव रहता है। ऐश्वर्य प्राप्त करके त्यागमय सात्विक वृत्ति बनी रहने से सार्ष्टि मुक्ति मिलती है।

३. सामीप्य—

उपासना का अर्थ है—भगवान् के समीप बैठना। जो जितनी देर पवित्र और समाधिस्थ होकर उपासना करता है, वह उतने समय तक सामीप्य मुक्ति का आनन्द अनुभव करता है। जो निरन्तर कीर्तन करके किसी भी क्षण भगवान् का साथ नहीं छोड़ता, उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे भक्तों के लिये मुक्ति सदा सुलभ रहती है।

४. सारूप्य—

परमेश्वर मधुरता, आकर्षण और दिव्य तेज का पुञ्ज है। जिसमें परमेश्वर का भाव भर जाता है, उसमें दैवी तेज सहस्रों धाराओं में फूट निकलता है। अमित प्रभाव, व्यक्तित्व, पवित्र आकर्षण और शौर्य सारूप्य मुक्ति के चिह्न हैं। निरन्तर कीर्तन करनेवाला संयमन और नियमन से अपने चरित्र, वीर्य और शौर्य की रक्षा करता है, उसमें भगवान् का प्रभाव प्रकट हो जाता है।

५. सायुज्य—

जीवनभर शुभ कर्म करनेवाला शरीर को छोड़कर भगवान् में

लय हो जाता है। यही सायुज्य मुक्ति है।

परमेश्वर के समीप बैठने, उसके ऐश्वर्य तथा स्वरूप को प्राप्त करने और उसमें मिल जाने के लिये मनुष्य-तन मिला है।

महापुरुष जीवन में ही मुक्ति का अनुभव करते हैं। सतत-कीर्तन करनेवाला अपना रूपान्तर करते-करते जब सर्वत्र एक ही ब्रह्म का दर्शन करता है तब वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

'जित देखों तित स्याममयी है।'

यही मुक्ति का आनन्दमय दर्शन है और इसका साधन वे अनन्य प्रेमी भक्त जानते हैं, जिनका एक ही पवित्र भाव होता है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं, एकहिं रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहुँ दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बांधि हलाहल बोरो॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी वे अंखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छांड़ि निहारति गोरो॥

ऐसी तल्लीनता, एकरूपता और आत्मीयता से सायुज्य मुक्ति प्रत्यक्ष हो जाती है।

सतत-कीर्तन सब सुखों का साधन है। कीर्तन से चारों पदार्थ सुगमता से सुलभ हो जाते हैं।

कीर्तन जब व्यसन अथवा पापों को छुपाने का साधन बन जाता है, तब वह स्वयं नाम-अपराध हो जाता है। मिथ्याचार और विकार से भरे कीर्तन को भगवान् किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते—

ताना री री तुं तुमी ताहि न रीझें राम।
बिना प्रेम को गाइबो डूम भाट को काम॥

ऐसे कीर्तन से इतना लाभ अवश्य है कि कभी न कभी ज्ञान के उदय होने की सम्भावना बनी रहती है। मन या बे मन से कीर्तन करनेवालों में संस्कार, गुरु-कृपा अथवा दैवी कृपा-वश किसी भी समय भगवद् भाव जागृत हो सकता है।

वास्तविक कीर्तन तो वह है जिसमें पवित्रता, एकाग्रता और तन्मयता की त्रिवेणी उमड़ती है और पापों-तापों, द्वेषों-द्वन्द्वों, विकारों तथा व्यथाओं को बहा देती है।

हाथ होंय सब किंकरी नसें होंय सब ताँत।
रोम रोम से ध्वनि उठे व्यथा रहे केहि भाँत॥

१. सतत-कीर्तन—

सतत-कीर्तन का साधारण अर्थ है लगातार कीर्तन। वीणा-सहित कीर्तन को भी सतत कीर्तन कहते हैं। (स=सहित, तत=वीणा) वीणा जब हृदय के तारों से सुसज्जित होकर प्राणों की ध्वनि के रूप में बजती है तब कीर्तन में स्वयं सच्चिदानन्द उतर आता है।

सब बाजे हिरदे बजें प्रेम पखावज तार।
मन्दिर ढूँढ़त को फिरे वही बजावन हार॥

सतत-कीर्तन का व्यावहारिक अर्थ—परमेश्वर के दिव्य कर्मों को जानकर उसके प्रभाव में रहकर, निरन्तर उसीकी प्रेरणा से कर्म करना है। सतत-कीर्तन करनेवाले महात्माजन परमेश्वर का सच्चा भजन करते हैं।

२. यत्न पूर्वक—

यत्न में बड़ी सामर्थ्य है। उत्साह और तत्परता से भजन करनेवाला सारी कठिनाइयों को सरल कर लेता है। मन की स्थिरता, बुद्धि की तीव्रता और इन्द्रियों की सावधानी तथा संयम से प्रयत्न पूरा होता है। आधे मन से उत्साह-हीन और दीन होकर किये गये

कर्म से कहीं सफलता नहीं मिलती।

यत्नशील का भाग्य सदा जागा रहता है। यत्नवान् के लिये सदा सतयुग रहता है। निराशा और दुःख में भी जो यत्नशील होकर कर्तव्य-पालन तथा भजन करता है उसका साथ परमेश्वर देता है।

योग दर्शन के अनुसार दीर्घकाल तक, निरन्तर, सत्कार पूर्वक सेवन से योग की भूमि दृढ़ होती है—इसी का नाम यत्न है।

वेदों ने यत्नशील को ही देवताओं के प्रेम का पात्र चुना है—

"इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।"

(ऋ० ८।२।१८)

देवता प्रयत्नशील भक्त को चाहते हैं—आलसी से प्रेम नहीं करते।

"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा।" (ऋ० ४।३३।११)

बिना पुरुषार्थ और प्रयत्न किये देवताओं से मित्रता नहीं होती।

महात्माजन निरन्तर पुरुषार्थ और प्रयत्न करके परमेश्वर का भजन करते हैं।

३. भक्ति से युक्त होकर—

परमेश्वर में अनन्य मन रखकर कर्तव्य-पालन अथवा स्वधर्म के आचरण करने का नाम 'भक्ति' है। भगवान् के चरणों से चलकर, शिव के शीश पर उतरती हुई, श्रद्धा और निर्मलता की गंगोत्तरी से भक्ति की धारा बहती है। भक्ति में प्रेम, सेवा, शिव-भाव, पवित्रता और अनासक्ति का महायोग होता है।

विशुद्ध अन्तःकरण में भक्ति की प्रतिष्ठा होती है। भगवान् श्रीराम ने युग-युग तक सत्य रहनेवाली एक निश्चित बात कही है—

'निर्मल मन जन सोइ मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'

भक्ति से युक्त रहनेवाला परमेश्वर में टिककर पवित्रता से सेवा और प्रेममय कर्म करता है।

महात्माजन दीन-दुःखियों की सेवा के लिये अपना जीवन अर्पण कर देते हैं, अपनी कोई वासना न रखकर वे परमेश्वर के लिये निरन्तर कर्म करते हैं, राग और द्वेष को त्यागकर सबसे निर्वैर होकर रहते हैं, जिनकी ऐसी रहनी है उन्हें * 'भक्ति से युक्त' कहते हैं।

४. नमस्कार करते हुए—

नमन से अहंकार का अन्त होता है। परमेश्वर को नित्य नमस्कार करने का अर्थ—त्यागपूर्ण सेवामय और विनम्र जीवन बनाना है।

श्रद्धा, सद्भाव और विनम्रता से देवताओं, गुरुजनों और वयोवृद्धों को नमस्कार करनेवाले नित्य प्रफुल्लित, स्वस्थ और दीर्घजीवी रहते हैं।

महर्षि मार्कण्डेय ने सबको देखकर नमस्कार करने के स्वभाव से ही अमृतत्व प्राप्त किया।

महात्माजन नमस्कार करके अपना भार हल्का कर लेते हैं। नमन भगवान् के पूजन का प्रधान अंग है।

दृढ़व्रती महात्माजन यत्नपूर्वक भक्ति से नित्य-युक्त होकर भगवान् को नमस्कार करके कीर्तन और उपासना करते हैं। इन साधनों के अतिरिक्त उपासना के और भी साधन हैं—

---

*भक्ति की व्याख्या अध्याय ८ के श्लोक १० में देखिये।

१५

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

ज्ञानयज्ञेन, च, अपि, अन्ये, यजन्तः, माम्, उपासते,
एकत्वेन, पृथक्त्वेन, बहुधा, विश्वतोमुखम् ।

अन्ये=दूसरे, ज्ञानयज्ञेन=ज्ञान यज्ञ द्वारा, एकत्वेन=अभिन्न भाव से, च=और, पृथक्त्वेन=भिन्न भाव से अपि=भी, बहुधा=नाना प्रकार से, यजन्तः=पूजन करते हुए, माम्=मुझ, विश्वतोमुखम्=विराट् स्वरूप परमेश्वर की, उपासते=उपासना करते हैं ।

कुछ भेद और अभेद से कुछ ज्ञान-यज्ञ विधान से ।
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतो मुख ध्यान से ॥

अर्थ—दूसरे ज्ञान-यज्ञ द्वारा अभिन्न भाव से और भिन्न भाव से भी, नाना प्रकार से पूजन करते हुए मुझ विराट् स्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं ।

व्याख्या—परमेश्वर की उपासना के अनेकों मार्ग हैं—भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग विशेष रूप से प्रचलित हैं । परमेश्वर की ओर जाने के साधन अलग-अलग हो सकते हैं, परन्तु साध्य एक ही है ।

भक्ति-मार्ग पर चलनेवाले अपने मन, बुद्धि और सम्पूर्ण कामनाओं को उसी सत्य रूप अनन्त ब्रह्म के अर्पण कर देते हैं—

'तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिन मानदेन कीर्तिनीयः सदा हरि ॥'

भक्तजन अपने-आपको अत्यन्त विनम्र सबका सेवक जानकर, वृक्ष के समान सहनशील रहकर, अपना मान न चाहता हुआ सबको मान देकर नित्य निरन्तर भगवान् का भजन-कीर्तन करता है।

ज्ञानीजन ज्ञान-यज्ञ से भजन करते हैं।

ज्ञान-यज्ञ—

"भगवद्विषयक ज्ञानरूप यज्ञ से भगवान् का पूजन—ज्ञानयज्ञ है। —शंकराचार्य

"ज्ञान-यज्ञ का अर्थ है—परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान से ही आकलन करके उसके द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेना।" —तिलक

ज्ञान-यज्ञ उसे कहते हैं, जहाँ आदि संकल्प ही यज्ञ-स्तम्भ है, पंचमहाभूत मण्डप है, द्वैत पशु है, पाँचों महाभूतों के जो विशेष गुण अथवा इन्द्रियाँ और प्राण हैं वही यज्ञ की सामग्री है, अज्ञान घृत है और मन-बुद्धिरूपी कुण्ड में ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है। वहाँ साम्य को ही सुन्दर वेदी जानो, विवेक-युक्त बुद्धि की कुशलता ही मन्त्र है, विद्या की महिमा और शान्ति स्रुक् और स्रुवा है और जीव यज्ञ करनेवाला है।" —सन्त ज्ञानेश्वर

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रियभक्त उद्धव को ज्ञान का स्वरूप-दर्शन इस प्रकार कराया है—

'नवैकादश पंचत्रीन् भावान भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञान मम निश्चितम ॥' —भागवत

हे उद्धव! मेरा तो यह निश्चय है कि नौ (प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) दस इन्द्रियाँ और

एक मन, पाँचों महाभूत और तीनों गुण, ये अट्ठाइस तत्त्व अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। जिसके द्वारा इन तत्त्वों में परमेश्वर की शक्ति का दर्शन होता है वही ज्ञान है।

यज्ञ, तप, दान आदि शुभ कर्मों को ज्ञान-सहित करने से ज्ञानयज्ञ सम्पन्न होता है।

ज्ञानयज्ञ से परमेश्वर के भजन का अभिप्राय है—एकत्व मति से अथवा अद्वैत भाव से सम्पूर्ण विश्व में निराकार ब्रह्म को व्याप्त जानकर उसकी सेवा करना। चराचर सृष्टि में परमेश्वर सम भाव से व्याप्त है। भेदभाव से ऊपर उठकर एकत्व भाव, सत्य, सेवा और प्रेम से परमात्मा की अद्वैत उपासना होती है।

ज्ञान पूर्वक सब पर दया, सबके साथ सरल एवं सत्य व्यवहार तथा स्वभावतः परोपकार के निष्काम कर्मों से, ज्ञानीजन परमेश्वर की उपासना करते हैं और नित्य ब्रह्म के पवित्र तथा उच्चभाव में विचरते हैं।

कुछ महानुभाव पृथक्-पृथक रूपों में परमेश्वर को मानते हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, चन्द्र, देवी, देवता आदि अनेक रूपों में परमेश्वर को मानकर अनेक प्रकारों से उपासना करते हैं। परमेश्वर सर्वत्र है, विश्व में सब ओर उसी के मुख हैं। अतः सब प्रकार की उपासना उस विश्वरूप परमेश्वर को ही पहुँचती है।

सत्य-संकल्प से प्राणियों की सेवा भी भगवान् की सेवा है और देवताओं, गुरुजनों तथा माता-पिता की सेवा भी परमेश्वर की ही पूजा है। अद्वैत, द्वैत, निराकार, साकार कैसा भी ज्ञान हो जहाँ श्रद्धा, पवित्रता और पूजा का निष्काम भाव होता है वहीं परमेश्वर रहता है।

मनुष्य के सब कर्म परमेश्वर को पहुँचते हैं क्योंकि वह विश्वरूप है—

१६

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

अहम्, क्रतुः, अहम्, यज्ञः, स्वधा, अहम्, अहम्, औषधम्, मन्त्रः, अहम्, अहम्, एव, आज्यम्, अहम्, अग्निः, अहम्, हुतम् ।

क्रतुः=क्रतु, अहम्=मैं हूँ, यज्ञ=यज्ञ, अहम=मै हूँ, स्वधा=स्वधा, अहम=मै हूँ, औषधम्=औषधि, अहम्=मै हूँ, मन्त्र=मन्त्र, अहम्=मै हूँ, आज्यम्=घृत, अहम्=मैं हूँ, अग्निः=अग्नि, अहम्=मै हूँ, हुतम्=हवन रूप क्रिया, एव=भी, अहम्=मै हूँ ।

मैं यज्ञ श्रौतस्मार्त हूँ एवं स्वधा आधार हूँ ।
घृत और औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ ॥

अर्थ—क्रतु मै हूँ, यज्ञ मै हूँ, स्वधा मे हूँ, औषधि मै हूँ, मन्त्र मै हूँ, घृत मै हूँ, अग्नि मै हूँ, हवन रूप क्रिया भी मे हूँ ।

व्याख्या—परमेश्वर भिन्न-भिन्न रूप और नामों से सर्वत्र व्याप्त है। आदान-प्रदान द्वारा सेवा के कर्मों में जो ब्रह्म है वही भक्तों के ध्यान में रहनेवाला है । याज्ञिकजनों के लिये पंच महायज्ञों में भी वही ब्रह्म व्याप्त है। वही ब्रह्म, अन्न और औषधियों के रूप में प्रकट होता है । मन्त्र भी वही है, घृत भी वही है, अग्नि भी वही है और आहुति रूप में मनुष्य जो भी कर्म करता है उस सबमें परमेश्वर रहता है ।

कोई किसी प्रकार परमेश्वर की सत्ता से पृथक् नहीं रह सकता। परमेश्वर को न देखकर अयोग्य, विकार भरे अथवा अनुचित कर्म करना अज्ञान है और सब कर्मों को ब्रह्मरूप जानकर ब्रह्ममय होकर कर्म करना ज्ञान है। ज्ञान की आँख से सर्वत्र परमेश्वर के दर्शन होते हैं—

हरिर्दाता हरिर्भोक्ता हरिरन्नं प्रजापतिः।
हरिर्विप्रशरीरस्तु भुंक्ते भोजयते हरिः॥

देनेवाला परमेश्वर, भोगनेवाला परमेश्वर, अन्न परमेश्वर, प्रजा का पालन करनेवाला परमेश्वर, सेवा और त्याग के स्वरूप ब्राह्मण के शरीर में परमेश्वर, खाने और खिलानेवाला भी परमेश्वर है।

गीता के इस पवित्र ज्ञान में विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण का गम्भीर दर्शन है। तन, मन, वचन से होनेवाली चेष्टाओं और कर्मों में भगवान् का भाव रखने से सर्वत्र संयम, शुद्धि, सरलता, सत्य और सद्भावना का वातावरण बना रहता है, ऐसे वातावरण में सब कर्म यज्ञमय होते हैं। अन्न, औषधि, अग्नि, आहुति आदि में परमेश्वर की पवित्र भावना होने से सबके द्वारा अपना-अपना निश्चित और उपयोगी कार्य सम्पन्न होता है, जीवन जड़ता से बचा रहता है तथा चेतना हिलोरें लेती है।

भजन, भोजन, भोग, भेषज, भाषण, भाव, भाषा जिसमें से भी परमेश्वर का पवित्र भाव निकल जाता है वह सार हीन हो जाता है।

दैवी भाव को जाग्रत रखने के लिये ही वेदों ने अन्न, जल, औषधि आदि ग्रहण करने के मन्त्र दिये हैं।

परमेश्वर सबको जीवित रहने, सुख भोगने और उन्नति करने के समान अधिकार देता है—वह सबका पिता है—

१७

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥

पिता, अहम्, अस्य, जगतः, माता, धाता, पितामहः,
वेद्यम्, पवित्रम्, ओंकारः, ऋक्, साम, यजुः, एव, च।

अस्य=इस, जगतः=जगत् का, धाता=धारण-पोषण करनेवाला, पिता=पिता, माता=माता, पितामहः=पितामह, वेद्यम्=जानने योग्य, पवित्रम्=पवित्र, ओंकार=ओंकार, ऋक्=ऋग्वेद, साम=सामवेद, च=और, यजुः=यजुर्वेद, अहम्=मैं, एव=ही, (हूँ)

जग का पिता माता पितामह विश्व-पोषण-हार हूँ।
ऋक् साम यजु श्रुति जानने के योग्य शुचि ओंकार हूँ ॥

अर्थ—इस जगत् का धारण-पोषण करनेवाला, पिता, माता, पितामह, जानने योग्य, पवित्र, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मैं ही हूँ।

व्याख्या—परमेश्वर का भाव सुख और समुन्नति का मूल-स्रोत है। परमेश्वर महान् से महान् और सूक्ष्म से सूक्ष्म है। श्रद्धा और समर्पण पूर्वक, निर्विकार होकर परमेश्वर के सन्मुख होते ही जीव, पापों से छूट जाता है। जगत् में सभी रूप परमेश्वर के हैं परन्तु माता-पिता, धाता, पितामह, जानने के योग्य, पवित्र करनेवाला, ओंकार और वेद परमेश्वर के विशेष रूप हैं।

पिता—

पिता के संकल्प से पुत्र का जन्म होता है। पिता पुरुषार्थ रूप है। वह परम पुरुष सबका पिता कहा जाता है। पिता की सेवा पुत्र का नैतिक कर्तव्य है। पिता के प्रति श्रद्धा और सन्मान के भाव से सेवा सत्य और धर्म की प्रतिष्ठा होती है। पिता की सम्मति में चलनेवाली सन्तान सदा सुखी और समृद्धिशाली रहती है।

श्रवणकुमार ने माता-पिता की सेवा से अक्षय-कीर्ति प्राप्त की। पुण्डरीक की पितृभक्ति से प्रसन्न होकर परमेश्वर उसके पीछे-पीछे फिरते थे। पिता परमेश्वर का रूप है।

माता—

माता रूप प्रकृति की गोद में सम्पूर्ण जगत् फूलता-फलता है। माता का पद सर्वोच्च है। माता के तप और त्याग से सृष्टि का अस्तित्व है। माँ का प्रेम अनन्त होता है। माँ अन्नपूर्णा है। कुपुत्र को भी वह दूध पिलाकर पालती है। भगवान् माता बनकर भक्त की रक्षा करते हैं—

करहुँ सदा तिनकी रखवारी।
जिमि बालक पालहिं महतारी॥

पिता और माता अथवा पुरुष और प्रकृति की सेवा से मनुष्य, मनुष्य बन जाता है।

आचार्य शिष्यों को सम्पूर्ण विद्या देकर दीक्षांत-भाषण में अत्यन्त उपयोगी और व्यावहारिक ज्ञान देते हैं—उसी ज्ञान का रहस्य उपनिषदों ने इस प्रकार प्रकट किया है—

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।
देवपितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव॥

(तैत्त० १।११)

स्वाध्याय और प्रवचन करने मे सावधान रहना, अपनी स्मृति नित्य नवीन रखने में कभी मत चूकना। देवताओं और पितरों के कार्य करने के लिये नित्य तत्पर रहना। माता में देव बुद्धि रखना, पिता में देव बुद्धि रखना, आचार्य में देव बुद्धि रखना—इन्हें परमेश्वर के समान मानकर भक्ति और श्रद्धा से इनकी आज्ञा पालन करना, विनय पूर्वक व्यवहार से इन्हें प्रसन्न रखना और इनकी सेवा करते रहना।

धर्म के अवतार राम का एक महान् आदर्श था—

प्रात होत उठिकै रघुनाथा।
नाँवहि मातु पिता गुरु माथा॥

माता-पिता की सेवा के लिये श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था। वसुदेव के सुत देवकी के परमानन्द थे।

माता और पिता में परमेश्वर का दर्शन करनेवाला सदा सब भांति सुखी रहता है।

धाता—

सबका पालन पोषण करनेवाले को धाता कहते हैं। मनुष्य अपने पेट के लिये उचित और अनुचित कर्म करते समय भूल जाता है कि सबका पालन-पोषण करनेवाला और कर्मों का फल देनेवाला एक विधाता है। धाता रूप परमेश्वर किसी को दु.खी नहीं देखना चाहता, परन्तु तृष्णा, चाह, चिन्ता और विकारों से मनुष्य दु.ख मोल लेता है।

पितामह—

परमेश्वर पिता का भी पिता है। जन्म देनेवाले पिता को भी

उसने जन्म दिया है। उसके नाते सब भाई-भाई हैं। इस ज्ञान के अनुसार कर्म करने से जगत् कितना सुखी हो सकता है? इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

पवित्र—

पवित्र रूप परमेश्वर का है। सबको पवित्र करनेवाला भी वही है। जो स्वयं पवित्र है वही पतितों को पावन कर सकता है।

ओंकार—

'ॐ' प्रणव है, 'ॐ' की महिमा अपार है, 'ॐ' वेदों का सार है, 'ॐ' परमात्मा का रूप है। *

ऋक् साम यजु—

परमेश्वर वेद रूप है। वेदों में परमेश्वर का दिव्य-दर्शन करना प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है। वेदों का ज्ञान पुरुष को पुरुषोत्तम से मिला देता है। ऋषियों ने वेदों में परमेश्वर को पाया है। स्वाध्याय की वृत्ति नष्ट हो जाने से परमेश्वर कहीं देखने में नहीं आता। स्वाध्याय करनेवाले परमेश्वर के स्वरूप को देख और जान लेते हैं।

जानने योग्य—

जगत् में जानने योग्य केवल परमेश्वर है। मनुष्य की शक्ति अधिकार और व्यवहार का ज्ञान परमेश्वर के ज्ञान से होता है। परमेश्वर को जाननेवाला किसी भी परिस्थिति में दुःखी और अशान्त नहीं होता—माता, पिता, गुरुजन, वेदशास्त्र, पवित्र भाव, मन्त्र आदि किसी न किसी की कृपा से वह दुःखों से पार हो जाता है।

परमेश्वर का ज्ञान सुख, सामर्थ्य और आश्वासन देनेवाला है।

---

* 'ॐ' की व्याख्या 'गीता-ज्ञान' अध्याय ८ श्लोक १३ में देखिये।

१८

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

गतिः, भर्ता, प्रभुः, साक्षी, निवासः, शरणम् , सुहृत्,
प्रभवः, प्रलयः, स्थानम्, निधानम्, बीजम्, अव्ययम् ।

गतिः=गति, भर्ता=भर्ता, प्रभु=प्रभु, साक्षी=साक्षी, निवास=निवास, शरणम्=शरण देनेवाला, सुहृत्=सुहृद्, प्रभवः=उत्पत्ति करनेवाला, प्रलय=प्रलयरूप, स्थानम्=सबका आधार, निधानम्=निधान, (और) अव्ययम=अविनाशी, बीजम्=कारण (मैं ही हूँ) ।

पोषक प्रलय उत्पत्ति गति आधार मित्र निधान हूँ ।
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय मैं निवास स्थान हूँ ॥

अर्थ—**गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण देनेवाला, सुहृद्, उत्पत्ति करनेवाला, प्रलयरूप, सबका आधार, निधान और अविनाशी कारण मैं ही हूँ ।**

व्याख्या—परमेश्वर क्या है और क्या नहीं है ? इसका रहस्य अगम्य है। जहाँ तक बुद्धि जाती है वहाँ तक परमेश्वर है और उससे भी परे है।

रहस्यमय परम पुरुष के सम्बन्ध में ऋषियों की जिज्ञासा नित्य नयी बनी रही है—

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् ?"

उसे किसने जाना है और किसने कहा है ?

उसे जिसने जितना जाना है उतना कहा है। उसे वही जानता है, जिसे वह जानने के योग्य बनाता है।

उस परम पुरुष का वर्णन गीता की अपनी विशेषता है—

गति—

गति का अर्थ है—मार्ग, ज्ञान, दशा, यात्रा, कर्म-फल, मुक्ति, चाल, प्राप्त करने योग्य, परिणाम। (शब्दार्थ चिन्तामणि)

उत्तम गति परमेश्वर है। वही प्राप्त करने योग्य है। जिस पथ पर चलना है, जहाँ पहुँचना है और जिसके द्वारा पहुँचना है वह सब परमेश्वर है।

भर्ता—

परमेश्वर सबका भरण-पोषण करता है। अन्न, वस्त्र, स्थान, स्वास्थ्य और दीर्घायु देनेवाला परमेश्वर है। परमेश्वर का साथ छूट जाने से मनुष्य को अन्न-वस्त्र आदि के लिये भटकना पड़ता है।

प्रभु—

परमेश्वर जगत् पर शासन करनेवाला सबका प्रभु है। धर्म उसका नियम है। उसके शासन में सर्वत्र सुख है। नियम के विरुद्ध आचरण करनेवाले को वह दण्ड देता है।

साक्षी—

परमेश्वर की दिव्य दृष्टि से कुछ भी छुपा नहीं रहता। वह मनुष्य के विचारों और कर्मों को साक्षी होकर देखता और जानता है।

निवास—

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निवास-स्थान परमेश्वर है। मनुष्य

उठते-बैठते, चलते-फिरते और प्रत्येक कर्म करते हुए परमेश्वर में निवास करता है।

शरण—

परमेश्वर सबको शरण देनेवाला है। जो हृदय से उसकी ओर जाता है उसे वह निर्भय और चिन्ता-मुक्त कर देता है।

सुहृद्—

परमेश्वर कोमल चित्त और बिना कारण सब पर कृपा करनेवाला सुहृद् है।

प्रभव, प्रलय, स्थान—

परमेश्वर से सबकी उत्पत्ति हुई है। वह जगत् का उत्पत्ति-कर्ता है, वही प्रलय-कर्ता है और वही सबकी स्थिति का कारण है।

निधान—

पदार्थ, गुण और तत्त्वों का भण्डार परमेश्वर है। धन, सम्पत्ति सत्ता, शान्ति, सुख, दरिद्रता, अवगुण, अशान्ति, दुःख सबकी निधि परमेश्वर है। जो जिस भाव से और जैसे कर्मों से उसकी ओर बढ़ता है उसे वैसा ही मिलता है।

अव्यय-बीज—

परमेश्वर की शक्ति का कभी व्यय नहीं होता। सबका मूल कारण होकर और उत्पत्ति, पालन, प्रलय करके भी बीज रूप परमेश्वर ज्यों का त्यों बना रहता है।

ऐसे परम पुरुष को जो जानता है उससे सदा योग्य कर्म होते हैं।

परमेश्वर की शक्ति अपार है। उसके दिव्य कर्मों से सृष्टि का व्यापार चलता है—

१९

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

तपामि, अहम्, अहम्, वर्षम्, निगृह्णामि, उत्सृजामि, च, अमृतम् , च एव, मृत्युः, च, सत्, असत्, च, अहम्, अर्जुन ।

अर्जुन=हे अर्जुन, अहम्=मैं, तपामि=सूर्य रूप हुआ तपता हूँ, अहम्=मैं, वर्षम्=वर्षा को, निगृह्णामि=थामता, च=और, उत्सृजामि=बरसाता हूँ, अहम्=मैं, एव=ही, अमृतम्=अमृत, च=तथा, मृत्युः=मृत्यु, च=एवं, सत्=सत्, असत्=असत्, च=भी, (हूँ) ।

मैं ताप देता, रोकता जल वृष्टि मैं करता कभी ।
मैं ही अमृत भी मृत्यु भी मैं सत् असत् अर्जुन सभी ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मैं सूर्य रूप हुआ तपता हूँ, मैं वर्षा को थामता और बरसाता हूँ, मैं ही अमृत तथा मृत्यु एवं सत्-असत् भी हूँ ।

व्याख्या—प्रकृति का स्वामी परमेश्वर है। प्रकृति परमेश्वर से आदेश, प्रेरणा और चेतना पाकर कर्म करती है। केवल प्रकृतिवाद से विनाश और अनर्थकारी भौतिकवाद बढ़ता है। प्रकृति और परमेश्वर दोनों के ज्ञान से जीवन-प्रद विज्ञान और धर्म की वृद्धि होती है।

परमेश्वर को न माननेवाले भी परमेश्वर की प्रकृति को मानते है। ऋत और सत् अर्थात् प्राकृतिक और नैतिक नियमों और सत्य रूप परमेश्वर के सहारे सम्पूर्ण दृश्य और अदृश्य जगत् टिका हुआ है।

समुद्र की गम्भीरता मे उस अनन्त शक्तिशाली को देखो! विचित्र ब्रह्माण्ड उसकी अद्भुत रचना है। भाति-भाति के पक्षी, अनेकों प्रकार के रंग-विरंगे फूल, ऋतुओं का आना-जाना, सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि का नियम से उदय और अस्त परमेश्वर की सत्ता और महत्ता के प्रमाण है—

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति। (तैत्तरीय २।८)

परमेश्वर के भय से वायु चलता है, सूर्य समय पर उदय होता है, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु नियम से अपने-अपने कार्य मे लगे रहते है।

सबकी सुव्यवस्था करनेवाला और सबका प्रेरक परमेश्वर है। वह सत्य, ज्ञान और आनन्द रूप है। सूर्य-रूप होकर वह तपता है, वर्षा को धारण करता है और बरसाता है। चरित्रवान् सत्यशील और परमार्थी पुरुषों के लिये वह अमृत स्वरूप है और दुराचारी दुष्कृतो तथा आसुरीजनों के लिये मृत्यु-रूप है।

परमेश्वर सत् भी है और असत् भी। वह किसी मे नहीं है और सबमे है। नाम रूप-रहित अव्यक्त भी है और नाम रूपात्मक जगत् भी है। वह असत् और नश्वर जीव-जगत् मे भी है और देवताओं के देवता इन्द्र मे भी। ज्ञानीजन सब स्वरूपों मे उसे जानते है और उसकी उपासना करते है।

परमेश्वर सब प्रकार मान्य और आराधना करने योग्य है—

२०

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

त्रैविद्याः, माम्, सोमपाः, पूतपापाः, यज्ञैः, इष्ट्वा, स्वर्गतिम्, प्रार्थयन्ते, ते, पुण्यम्, आसाद्य, सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति, दिव्यान्, दिवि, देवभोगान् ।

त्रैविद्याः=तीन विद्याओं को जाननेवाले, सोमपाः=सोमरस पीनेवाले, पूतपापाः=पाप-त्याग से पवित्र हुए (जो पुरुष), यज्ञैः=यज्ञों के द्वारा, माम्=मुझे, इष्ट्वा=पूजकर, स्वर्गतिम्=स्वर्ग-प्राप्ति के लिये, प्रार्थयन्ते=प्रार्थना करते हैं, ते=वे, पुण्यम्=पुण्यों के फलरूप, सुरेन्द्रलोकम्=इन्द्रलोक को, आसाद्य=पाकर, दिवि=स्वर्ग में, दिव्यान्=दिव्य, देवभोगान्=देवताओ के भोगों को, अश्नन्ति=भोगते हैं ।

जो सोमपा त्रैविद्य-जन निष्पाप अपने को किये ।
कर यज्ञ मुझको पूजते हैं स्वर्ग-इच्छा को लिये ॥
वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का सुर-वर्ग में ।
फिर दिव्य देवों के अनेकों भोग भोगें स्वर्ग में ॥

अर्थ—तीन विद्याओं को जाननेवाले, सोम रस पीनेवाले, पाप-त्याग से पवित्र हुए (जो पुरुष) यज्ञों के द्वारा मुझे पूजकर

स्वर्ग प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते है, वे पुण्यों के फल रूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में दिव्य देवताओ के भोगो को भोगते है।

व्याख्या—मनुष्य स्वभाव से ही सुख चाहता है परन्तु उसे क्षणिक सुख मिलता है। मनुष्य लोक मे—

"सुखस्यान्तर दु ख दु खस्यान्तर सुखम्।"

सुख के पश्चात् दु ख और दु ख के पीछे सुख लगा रहता है। सुख-दु ख के चक्र से छूटे हुए नर-नारी देवताओं का सुख भोगते हैं। उपनिषदो ने देवताओं के सुख को मनुष्य के सुख से सहस्रों गुना अधिक माना है और आनन्द-भोग पर विचार किया है—

"युवा स्यात्साधु युवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येय
पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णास्यात्। स एको मानुष आनन्द।"
(तैत्त० २।८)

युवावस्था हो, श्रेष्ठ आचरण हो, शास्त्रों का विशेष अध्ययन हो, शासन-व्यवस्था मे सब प्रकार कुशल हो, अग-प्रत्यंग और इन्द्रियाँ स्वस्थ, पुष्ट और समर्थ हों, सब प्रकार बलवान् हों, धन-सम्पत्ति से सम्पन्न पृथिवी पर अधिकार हो—इतना मनुष्यलोक का एक महान् आनन्द है।

इससे सौ गुना आनन्द मानव गन्धर्वो का होता है। मानव गन्धर्वों से सौ गुना आनन्द देवताओं का होता है। उनसे सौ गुना आनन्द शुभ कर्मों से प्राप्त होता है और उससे भी सौ गुना आनन्द उसे मिलता है जो ज्ञान और विद्या के रहस्य को समझकर निष्काम कर्म करनेवाला है।

मनुष्य लोक के सुख से स्वर्ग का सुख नि सन्देह श्रेष्ठ है। स्वर्ग के सुख भोगों की कामना करनेवालों का वर्णन इस प्रकार है—

१—त्रैविद्याः=तीन विद्याओं को जाननेवाले।

२—सोमपाः=सोम रस पीनेवाले।

३—पूत पापाः=पाप-त्याग से पवित्र हुए।

४—यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते=यज्ञों द्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग-प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं।

१. त्रैविद्या—

तीनों वेदों और उनकी विद्या को जाननेवाले त्रैविद्या कहे जाते हैं।

वेद सब विद्याओं के मूल स्रोत हैं। कर्म काण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड तीनों विद्याओं का पृथक्-पृथक् ज्ञान और समन्वय वेदों में है। सद्विचार, सद् भाषण और सत्कर्म द्वारा मनुष्य को महान् बनाने की प्रेरणा देनेवाले वेद हैं।

ऋग्, यजु और साम इन तीनों वेदों को वेदत्रयी अथवा त्रिविद्या कहते हैं। त्रिविद्या को जाननेवाला त्रैविद्य कहलाता है।

तीन लोक, तीन काल, तीन देवता, तीन गुण, तीन अवस्था आदि की विद्या का वेदों में वर्णन है। जिसे तीन विद्याओं का ज्ञान है वही त्रैविद्य है।

२. सोम रस पीनेवाले—

कर्म, उपासना, योग, यज्ञ आदि में दृढ़ता, धैर्य और एकाग्रता होने से शीघ्र ही सफलता मिलती है। दृढ़ता और धैर्य के लिये सोम-पान अत्यन्त उपयोगी है।

आयुर्वेद के अनुसार 'सोम' एक औषधि है।

"औषधीनां पतिं सोमम्।"

सोम, औषधियों में श्रेष्ठ है। सोमरस के सेवन से बुद्धि, बल

स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि होती है और शारीरिक तथा मानसिक रोगों से मुक्ति मिल जाती है।

वैदिक ऋषियों ने सोम को अमृत अथवा वीर्य कहा है—

"रेत सोम । (शतपथ ३।३।२।१)

"शुक्र ह्येतत् शुक्रेण क्रीडाति यत् सोम हिरण्येन ।"

(शतपथ ३।३।३।६)

शुक्र से ही शुक्र मोल लिया जाता है सोम भी शुक्र है और हिरण्य भी शुक्र है।

वीर्यवान् पुरुष सोमरस का पान करता है। स्वास्थ्य, दीर्घायु, नीरोगता, पवित्रता, सत्य-सकल्प और सब प्रकार के पवित्र भाव बनानेवाला वीर्य है। वीर्य को धारण करने से दृढ़ता और कुशलता मिलती है। वीर्यवान् होना ही 'सोम रस' का पान है।

एक स्थान पर अन्न को भी सोम कहा गया है—

"अन्न वै सोम ।" (शतपथ २।६।१।८)

अन्न ही सोम है। शुद्ध अन्न से शक्ति मिलती है और शरीर बलवान् तथा नीरोगी रहता है।

सोम से शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों का विकास होता है। वीर्य रूपी सोम की रक्षा करनेवाले देवता होते है और वीर्य को नष्ट करनेवाले असुर। असुर हाड़-माँस के पीछे दौडते हैं और देवता सोम रस का पान करके पवित्र तथा पुष्ट रहते हैं।

इस प्रकार सोम-रस-पान का अर्थ है वीर्य की रक्षा करना। ब्रह्मचर्य, सदाचार और चरित्र की प्रतिष्ठा का मूल मन्त्र वीर्य रक्षा है।

३. पूत पापा—

पापों को छोड़कर पवित्र होनेवाले नर-नारियों को पूत पापा

कहते हैं, पापों के त्याग से मिलनेवाला आनन्द अमृत है। निष्पाप नर-नारियों के विचार और कर्म पवित्रता से भरे रहते हैं। पापों का त्याग सबसे बड़ा त्याग है। जहाँ पाप हैं वहीं चाह-चिन्ता, राग-द्वेष और मृत्यु को भोजन मिलता है। पापों से छूटकर की हुई प्रार्थना सदा सफल होती है।

प्रायश्चित करने के लिये अथवा पापों को छुपाने के लिये की गई प्रार्थना, परमेश्वर से नहीं मिलाती। पापों को छोड़ने के लिये और पापों को छोड़कर की गई प्रार्थना से परमेश्वर मिलता है।

४. यज्ञों द्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग-प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं—

पापों से छूटे हुए पवित्र मनुष्य जो कुछ करते हैं वह सब यज्ञ होता है। यज्ञों का ध्येय मनुष्य का सर्वोदय है। अन्न, घृत, औषधि आदि द्वारा किये गये यज्ञों से वातावरण पवित्र होता है, वायु शुद्ध हो जाती है और पर्जन्य बनता है।

सेवा, सत्य आदि शुभ कर्मों द्वारा किये गये यज्ञों से पाप कटते हैं और जीवन्मुक्ति मिलती है।

कामना के लिये किये गये यज्ञों से कामनायें पूरी हो जाती हैं क्योंकि यज्ञ एक शुभ कर्म है और शुभ कर्मों का फल सदा शुभ होता है।

इस जगत् में ऐसे नर-नारी अधिक हैं जो अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिये धर्म-शास्त्रों का पाठ करते हैं, सोम का पान करके पापों से बचने का प्रयत्न करते हैं और पवित्र होकर यज्ञ-कर्म करते हैं परन्तु धन, ऐश्वर्य, स्वर्ग-सुख आदि की कामना होने के कारण वे पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाते और जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे रहते हैं—

२१

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

ते, तम्, भुक्त्वा, स्वर्गलोकम्, विशालम्, क्षीणे, पुण्ये, मर्त्यलोकम्, विशन्ति, एवम्, त्रयीधर्मम्, अनुप्रपन्नाः, गतागतम्, कामकामाः, लभन्ते ।

ते=वे, तम्=उस, विशालम्=विशाल, स्वर्गलोकम्=स्वर्ग लोक को, भुक्त्वा=भोगकर, पुण्ये=पुण्य, क्षीणे=क्षीण होने पर, मर्त्यलोकम्=मृत्यु लोक मे, विशन्ति=आजाते है, एवम=इस प्रकार, कामकामा=भोगो की कामनावाले, त्रयीधर्मम्=तीनो धर्मो की, अनुप्रपन्ना=शरण लिये हुए (भी) गतागतम्=बार-बार आने-जाने को, लभन्ते=प्राप्त होते है ।

वे भोग कर सुख भोग को, उस स्वर्ग लोक विशाल में ।
फिर पुण्य बीते आ फँसे इस लोक के दुःख जाल में ॥
यों तीन वेदों में कहे जो कर्म-फल में लीन हैं ।
वे कामना प्रिय जन सदा आवागमन - आधीन हैं ॥

अर्थ—वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आजाते है, इस प्रकार भोगों को कामनावाले तीनों धर्मों की शरण लिये हुए (भी) बार-बार आने-जाने को प्राप्त होते है ।

व्याख्या—परमेश्वर ने सबको बुद्धि प्रदान की है। मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। मनुष्य को कर्म-उपासना-ज्ञान, उत्पत्ति पालन, प्रलय, सत्त्व-रज-तम आदि तथा अपने कर्तव्य का ज्ञान होता है परन्तु सबको जानकर भी कामनाओं के फेर में पड़कर वह केवल कामना-पूर्ति के लिये त्रयीधर्म की शरण लेता है। हृदय से धर्म की ओर न जाने के कारण उसे दुःखों में पड़ना पड़ता है।

शुभ कर्मों से मनुष्य को विशाल स्वर्गलोक मिलता है।

धर्म-ग्रन्थों में स्वर्ग की विशालता का सुन्दर और रहस्यपूर्ण वर्णन है। *

स्वर्ग में कामधेनु और कल्पवृक्ष से पुण्यवानों की प्रत्येक कामना पूर्ण होती है। अहिंसा का वहाँ साम्राज्य है, सिंह और बैल, सर्प और मयूर आदि विरोधी स्वभाववाले भी राग-द्वेष छोड़कर पवित्र प्रेम से साथ-साथ विचरते हैं।

विशाल स्वर्गलोक को पाकर भी पुण्य समाप्त हो जाने पर मनुष्य को मृत्युलोक में आना पड़ता है।

संसार के व्यवहार में भी पुण्यवान् जन कभी-कभी स्वर्ग के सुख प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु पुण्य-क्षीण होने पर उन्हें दुःख में पड़ना पड़ता है, जगत् में अनेकों ऐसी घटनायें घटती हैं—राजा, रंक हो जाता है और रंक बड़े-बड़े पद पाते देखे जाते हैं। सुखी को दुःखी और दुःखी को सुखी होते देर नहीं लगती। मनुष्य को किसी भी अवस्था में अपने शुभ कर्मों का अन्त नहीं करना चाहिये।

पुण्य-क्षीण होने पर स्वर्गलोक से भी मृत्युलोक में गिरना पड़ता

---

* 'गीताज्ञान' अध्याय ६ श्लोक ४१ की टीका देखिये।

है, संसार के क्षण भंगुर सुख-भोगों को समाप्त होते तो कुछ भी देर नहीं लगती।

राजा नहुष ने तप और यज्ञ के पुण्य से इन्द्रपद प्राप्त किया था परन्तु भोगों की कामना ने उसका पुण्य क्षीण कर दिया और वह अजगर होकर स्वर्ग से नीचे गिर गया।

भाग्यवश धनी मानी तथा उच्च कुल मे जन्म पाकर भी जो कर्तव्य-पथ से विमुख हो जाते हैं उनका पतन होता है। तप, त्याग, यज्ञ आदि के पुण्यों से प्रभुता पाकर मद, प्रमाद, पक्षपात, अन्याय और धन-संग्रह करनेवाले कामकामी जन सदा नीचे गिरते हैं।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पद प्राप्य विचक्षणैः ।
अप्रमत्तैर्नरैर्भाव्यमिहामुत्र च लब्धय ॥
(स्क० १५।८७-८८)

अत. बुद्धिमान् पुरुषों का धर्म है कि प्रयत्नों और पुण्य फलों से उच्चपद स्वास्थ्य सुख सौन्दर्य धन मान कीर्ति और सुविधायें प्राप्त करके भी सदा सावधानी से कर्तव्य-पालन करते रहें।

कामनाओं मे कहीं शान्ति नहीं है। शान्ति केवल परमेश्वर का साथ लेकर कर्तव्य-पालन मे है। कामनाओं के पीछे दौड़नेवाले पुण्यवान, परमार्थी और धर्मात्माजनों को भी सुख-दु ख, जन्म-मृत्यु के चक्र मे पड़ना पड़ता है। परन्तु कामना करना मनुष्य का स्वभाव है; जीवन-यात्रा के लिये अनेक आवश्यकतायें होती हैं। परिवार, धन-धाम, अन्न-वस्त्र आदि के लिये प्राणी पुरुषार्थ करता है और प्रभु का सहारा लेता है। कामना न हो तो मनुष्य को मृत्यु की पुत्री अकर्मण्यता निगल जाय। अत. भक्ति-सहित पूर्णकाम होने की गम्भीर समस्या का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

२२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अनन्याः, चिन्तयन्तः, माम्, ये, जनाः, पर्युपासते,
तेषाम्, नित्याभियुक्तानाम्, योगक्षेमम्, वहामि, अहम् ।

ये=जो, जनाः=जन, अनन्याः=अनन्य भाव से,
चिन्तयन्तः=चिन्तन करते हुए, माम्=मुझे, पर्युपासते=भजते हैं,
तेषाम्=उन, नित्याभियुक्तानाम्=नित्य मुझमें लगे रहनेवालों का,
योगक्षेमम्=योगक्षेम, अहम्=मैं स्वयं, वहामि=चलाता हूँ ।

जो जन मुझे भजते सदैव अनन्य-भावापन्न हो ।
उनका स्वयं मैं ही चलाता योग-क्षेम प्रसन्न हो ॥

अर्थ—जो जन अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें लगे रहनेवालों का योग-क्षेम मैं स्वयं चलाता हूँ ।

व्याख्या—जीवन-निर्वाह का प्रश्न सबसे बड़ा है । समाज में अपना स्थान बनाने के लिये मनुष्य को विद्या, बल, स्वास्थ्य, सुन्दरता, मान, उच्च कुल, धन, धाम, सभ्यता और अनेकों गुणों तथा पदार्थों की आवश्यकता है । आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जिसे जैसा सूझता है वैसा करता है, फिर भी सबकी सब कामनायें और आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं । प्रायः देखा जाता है कि जो जितना बड़ा है उसके पीछे उतनी ही बड़ी आवश्यकतायें लगी रहती हैं । तृष्णा, अशान्ति और आशा मनुष्य का पल्ला नहीं छोड़तीं—

अग्रे वन्हि पृष्ठे भानु,
रात्रौ चिबुकसमर्पितजानु
करतलभिक्षा तरुतलवास,
तदपि नमुञ्चत्याशापाश: ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
अग्नि सूर्य से तप दिन जाते,
घुटने मोड़े रात बिताते।
बसे वृक्ष-तल, लिये भीख-धन,
किन्तु न छुटता आशा-बंधन ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

मनुष्य जितनी चिन्ता अपने योग-क्षेम की करता है, उतनी सत्य, सेवा और प्रेम रूप परमेश्वर की करे तो उसका कोई काम अटका नहीं रह सकता। अनन्य भाव से जो परमेश्वर को भजता है उसका योग-क्षेम स्वयं परमेश्वर करते हैं—यह सनातन सत्य है।

योग-क्षेम का अर्थ है—योग+क्षेम,

योग=जो प्राप्त नहीं है उसे मिला देना अथवा जिसकी आवश्यकता है वह मिल जाना।

क्षेम=जो कुछ प्राप्त है उसकी सब प्रकार रक्षा करना, उसे क्षीण न होने देना।

जो प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करने के लिये और जो प्राप्त है उसे सुरक्षित रखने के लिये प्राणी रात-दिन हाय हाय चिन्ता और घोर परिश्रम करता है, फिर भी सन्तोष नहीं मिलता। निराशा, भय, ग्लानि और अभावों से जीवन नीरस उदास और बोझल बन जाता है।

योग-क्षेम की चिन्ता जीवन को उभरने नहीं देती और जीव

की बुद्धि तथा शक्ति को खा जाती है। चिन्ता ग्रस्त स्वयं दुःखी रहता है और जगत् में दुःख बढ़ाता है।

दुःखहारी परमेश्वर जीव का त्राण और कल्याण करने के लिये योग-क्षेम का भार स्वयं अपने हाथों से वहन करने का आश्वासन देते हैं। भगवान् का यह आश्वासन केवल कहने मात्र का नहीं है प्रत्यक्ष सत्य है, आस्तिकता का उपहार है। कर्म और भक्ति के दो हाथ जुड़ते ही परमेश्वर, चार हाथों से प्राणी का योग-क्षेम करता है। मनुष्य पवित्र मन और सात्विक बुद्धि से अपना कर्म पूरा करता रहे तो परमेश्वर अपना कार्य अवश्य करता है।

परमेश्वर प्राणिमात्र का योग-क्षेम करता है परन्तु जो उसकी ओर नहीं देखते, उसके उपहार और वरदान को स्वीकार नहीं करते, उसकी अनन्त कृपाओं का लाभ नहीं उठाते और उस पर विश्वास नहीं करते, वे अपने दूषित ज्ञान और अज्ञान के कारण अपने ही कर्मों से परमेश्वर से प्राप्त योग-क्षेम से वञ्चित रह जाते हैं।

दो प्रकार के नर-नारियों का योग-क्षेम परमेश्वर के हाथों से होता है—

१—जो अनन्य होकर परमेश्वर का भजन करते हैं।

२—जो नित्य युक्त होकर परमेश्वर में लगे रहते हैं।

* अनन्य भक्ति अथवा † नित्य युक्त होने का भाव एक ही है। जो परमेश्वर में मन रखता है, सदा सावधान रहता है और उसी में टिक कर कर्म करता है—वही नित्य युक्त है।

---

* अनन्यता की व्याख्या 'गीताज्ञान' अध्याय ८ श्लोक १४-२० में देखिये।

† नित्य युक्त की व्याख्या 'गीताज्ञान' अध्याय ८ श्लोक १४ में देखिये।

मन को सब ओर से हटाकर एक तरफ लगाने से महाशक्ति का वरदान मिलता है—यह वैज्ञानिक सत्य है। शक्ति से योग-क्षेम की कठिनाइयाँ स्वयं सरल हो जाती हैं। सात्त्विक बल परमेश्वर का रूप है।

अनन्य भाव में कर्म और भक्ति का अद्भुत मेल है। भक्ति से प्राप्त भगवान् की कृपा से मनुष्य का मन सब ओर से हटकर एक मे लग जाता है। मन को एकाग्र करने से निष्काम कर्मयोग की साधना होती है। परमेश्वर में अनन्य प्रेम होने से मन का मैल धुल जाता है और बुद्धि मे दृढ़ता तथा समता भर जाती है। पवित्र मन से और निश्चयात्मक बुद्धि से जो कुछ किया जाता है वही निष्काम कर्म है।

परमेश्वर में मन लगाने से कर्तव्य-पालन करने की शक्ति बढ़ती है; सत्य, सेवा, प्रेम, सद्भाव और सम्पूर्ण दैवी गुण अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। अनन्य भक्त सब चिन्ताओं से मुक्त रहता है।

मनुष्य को फल और कामना का त्याग करना कठिन जान पड़ता है। भक्ति इस कठिनाई को सरल कर देती है। सकामता, अनन्यता में इस प्रकार मिल जाती है जैसे समुद्र मे लहरें। भक्त कर्म के फल को परमेश्वर के हाथों में सौंप देता है। वह कर्म के फलों से परमेश्वर की पूजा करता है।

जिन श्रेष्ठजनों का समय शुभ विचारों, सेवा-कार्यों और स्वधर्म के आचरण में बीतता है, जिन्हें अपने हाथ पर और मन पर संयम होता है और जो सत्य के मंगल-मार्ग पर चलते हैं उनका योग-क्षेम परमेश्वर करता है। सकामी पुरुष, परमेश्वर को छोड़कर इधर-उधर दौड़ता है—वह भी जाता परमेश्वर की ओर है परन्तु अज्ञान के कारण वह अपने प्रभु को पहचानता नहीं।

२३

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

ये, अपि, अन्यदेवताः, भक्ताः, यजन्ते, श्रद्धया, अन्विताः,
ते, अपि, माम्, एव, कौन्तेय, यजन्ति, अविधपूर्वकम् ।

कौन्तेय=हे कौन्तेय, श्रद्धा=श्रद्धा से, अन्विताः=युक्त हुए, ये=जो, अपि=भी भक्ताः=भक्त, अन्यदेवताः=दूसरे देवताओं को, यजन्ते=पूजते हैं, ते=वे, अपि=भी, अविधिपूर्वकम्=अविधि पूर्वक, माम्==मुझे, एव=ही, यजन्ति=पूजते हैं ।

जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा-लीन हो ।
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ ! पर विधि-हीन हो ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! श्रद्धा से युक्त हुए जो भी भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी अविधिपूर्वक मुझे ही पूजते हैं ।

व्याख्या—मनुष्य का रूपान्तर करके उसे मानव से महा मानव बनाने के लिये गीता समता की दृष्टि देती है । सम-दृष्टि से व्यवहार करने पर दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है और भगवान् का विश्व दर्शन होता है । प्रत्येक रूप परमेश्वर का है, जगत् वासुदेवमय है—यही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है । भक्ति से ऐसा ज्ञान सुलभ हो जाता है और कर्म से जब वह व्यवहार में प्रकट होता है तब मनुष्य अनन्य भाव से परमेश्वर की पूजा करता है ।

अनन्य भाव के विरुद्ध जो कामनाओं की प्रेरणा से परमेश्वर को सीमा मे बाँधकर पूजते है और अपनी मान्यता के अतिरिक्त सर्वत्र अन्य भाव रखते है, उनकी पूजा भी यद्यपि परमेश्वर को जाती है परन्तु उनकी श्रद्धा को अज्ञान घेर लेता है। अज्ञान तथा भय से उत्पन्न स्वार्थपूर्ण श्रद्धा मे सत्य न होने के कारण विधि का लोप हो जाता है।

श्रद्धा और विधि से किसी भी देवता की पूजा परमेश्वर की पूजा है। किसी भी मार्ग पर चलनेवाला परमेश्वर तक पहुँच जाता है। जगत् मे सब मार्ग परमेश्वर के है।

देव-पूजा-विज्ञान, सनातन वैदिक शास्त्रों का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। अपनी-अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार नर-नारी किसी भी देवता की उपासना करने मे स्वतन्त्र है। श्रद्धा और विधिपूर्वक की गयी उपासना से नि सन्देह मन चाहा फल मिलता है।

परन्तु जब नर-नारी केवल सकुचित स्वार्थपूर्ण कामनाओं से देवताओं की उपासना करते है तब वे ब्रह्म-भाव मे नहीं टिक पाते। उन्हें अपने स्वार्थ से ही प्रयोजन रहता है परमेश्वर से नहीं। परमेश्वर का ज्ञान न होने से ससार मे भेदभाव, ममता, स्वार्थपरता, दलबदी, साम्प्रदायिकता, विकार तथा आलस्य की वृद्धि होती है और मनुष्य परमेश्वर से दूर हटता चला जाता है। स्वार्थ और विकार के पथ पर परमेश्वर नहीं मिलता। परमेश्वर को न जानकर सकुचित भजन पूजन करनेवाले अज्ञान से भेदभाव फैलाने लगते है, एक देवता को बडा मानकर दूसरे का तिरस्कार करते हैं और परमेश्वर के रूपों मे ही विरोध देखने लगते है। अत उनकी पूजा विधि-रहित हो जाती है।

अविधि पूर्वक पूजा का अर्थ आचार्यों ने भिन्न-भिन्न किया है—

'अविधि पूर्वक=अज्ञान पूर्वक।' —(श्री शंकराचार्य)

" ='भेद-बुद्धि से।' —(श्री नीलकण्ठ)

" ='मोक्ष को जाननेवाली विधि के विना।'—(श्रीधर स्वामी)

'यद्यपि यह सत्य है कि किसी भी देवता की उपासना क्यों न करें पर वह पहुँचती भगवान् को ही है तथापि ज्ञान न होने से कि सभी देवता एक हैं, मोक्ष का मार्ग छूट जाता है और भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासकों को उनकी भावना के अनुसार भगवान् ही भिन्न-भिन्न फल देते हैं। —(लोकमान्य तिलक)

देवताओं की पूजा में साम्प्रदायिकता भेदभाव और कामना आते ही वह अविधि और अज्ञान से ढक जाती है। उपासक ऐसी पूजा से परमेश्वर तक नहीं पहुँच पाते। पूजा में श्रद्धा और विधि के अनुरूप फल अवश्य मिल जाता है।

मुक्ति-मार्ग पर न चलकर स्वार्थ-पूर्ति के लिये अज्ञान पूर्वक की गई देवताओं की उपासना से, स्वार्थ और अकर्मण्यता की वृद्धि होती है और भक्त विना कुछ किये वहुत कुछ चाहता है अथवा भूल या पाप करके उसके फल से छूटने का प्रयत्न करता है। ऐसे प्रयत्नों से ईश्वरीय-मार्ग लुप्त हो जाता है।

अग्नि, यम, वरुण, सूर्य, मरुत आदि देवता एक ही परमेश्वर के रूप हैं। देव, पितर, गुरु, अतिथि, ब्राह्मण, भूमि और गौ की सेवा करनेवाले भी परमेश्वर का भजन करते हैं। (महा० शा०)

परमेश्वर को अपना प्रिय वनाने के लिये नित्य उसका भजन करना चाहिये। संकट पड़ने पर की गई पूजा में आसक्ति तथा अज्ञान रहता है।

परमेश्वर देवताओं का देवता है; मनुष्य जो कुछ करता है वह सव उसीको पहुँचता है—

२४

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

अहम्, हि, सर्वयज्ञानाम्, भोक्ता, च, प्रभुः, एव, च,
न, तु, माम्, अभिजानन्ति, तत्त्वेन, अतः, च्यवन्ति, ते।

हि=क्योंकि, सर्वयज्ञानाम=सब यज्ञों का, भोक्ता=भोक्ता, च=और, प्रभुः=स्वामी, च=भी, अहम=मैं, एव=ही (हूँ), तु=परन्तु, ते=वे, माम्=मुझे, तत्त्वेन=तत्त्व से, न=नहीं, अभिजानन्ति=जानते, अत=अत च्यवन्ति=गिर जाते हैं।

सब यज्ञ-भोक्ता विश्व-स्वामी पार्थ मैं ही हूँ सभी।
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से गिरते तभी ॥

अर्थ—क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ, परन्तु वे मुझे तत्त्व से नहीं जानते, अतः गिर जाते हैं।

व्याख्या—मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब परमेश्वर को पहुँचता है। परमेश्वर सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी है।* इस परम सत्य को न जाननेवाले परमेश्वर से पृथक् रहकर स्वार्थ-भोगों के लिये कर्म करते हैं। उनके कर्म उन्हें ऊपर नहीं उठने देते। वे गिर जाते हैं और परमेश्वर तक नहीं पहुँच पाते।

---

* 'गीताज्ञान' अध्याय ५ श्लोक २९ देखिये।

२५

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

यान्ति, देवव्रताः, देवान् , पितॄन् , यान्ति, पितृव्रताः,
भूतानि, यान्ति, भूतेज्याः, यान्ति, मद्याजिनः, अपि, माम् ।

देवव्रता:=देवताओं को पूजनेवाले, देवान्=देवताओं को, यान्ति=प्राप्त होते है, पितृव्रता:=पितरो को पूजनेवाले, पितॄन्=पितरों को, यान्ति=प्राप्त होते हैं, भूतेज्या:=भूतों के पूजनेवाले, भूतानि=भूतों को, यान्ति=प्राप्त होते हैं, मद्याजिन:=मेरे भक्त, माम्=मुझे, अपि=ही, यान्ति=प्राप्त होते हैं ।

सुरभक्त सुर को पितृ को पाते पितर-अनुरक्त हैं ।
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं ॥

अर्थ—देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों के पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या—सेवा और साधना के अनेक मार्ग हैं । जो जिस मार्ग पर जिसकी खोज करता है उसे वही मिलता है ।

यह एक व्यावहारिक सत्य है कि मनुष्य जैसे संग में बैठते उठते हैं वैसे बन जाते हैं । देवताओं के साथ बैठने-उठनेवाले

देव रूप हो जाते हैं, देवताओं की उपासना मनुष्य को देवताओं तक पहुँचा देती है। देवताओं के भक्त देवताओं के अत्यन्त प्रिय बन जाते हैं और उनसे वाञ्छित फल पाते हैं। पितरों की सेवा और भक्ति करनेवाले पितरों से ज्ञान, सम्पत्ति, धन-धाम प्राप्त करते हैं—माता-पिता पितामह आदि का आशीर्वाद उन्हें मिलता है। मनुष्यों की सेवा करनेवाले मनुष्यों का सहयोग और प्रेम प्राप्त करते हैं।

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम।
स तमेवाभिजानाति नान्य भरतसत्तम॥ (म शा)

जो जैसा निश्चय करता है और जिस ओर जाता है वह उसी भाव के अनुरूप फल पाता है।

काम और स्वार्थपूर्ण प्रेम मे दैवी भाव नहीं होता। आसक्ति—मोह-ममता मयी सेवा से सत्यरूप परमेश्वर दूर रहता है।

सत्य, उदारता, सेवा भाव, पवित्रता और हार्दिक प्रेम से की गयी पूजा परमेश्वर की पूजा है। ऐसी पूजा करनेवाला परमेश्वर को प्राप्त करता है।

गीता का यह ज्ञान परस्पर सद्भाव, सेवा और प्रेम बढ़ानेवाला है। स्वार्थपूर्ण पूजा चापलूसी है उसमे हृदय और आत्म-भाव नहीं होता—उसका फल दु ख और अशान्ति है। परमेश्वर की पूजा सदा शान्तिदायिनी है—चाहे वह देव रूप मे हो, पितर रूप में हो, मनुष्य रूप मे हो अथवा किसी भी रूप मे हो।

प्रत्येक रूप मे परमेश्वर की पूजा करने के लिये पवित्रता, आत्म-भाव, त्याग और शुद्ध बुद्धि चाहिये। निष्काम और पवित्र भाव से की गयी सरल और साधारण से साधारण पूजा भी सबमे स्थित परमेश्वर को प्रसन्न कर लेती है—

२६

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

पत्रम्, पुष्पम्, फलम्, तोयम्, यः, मे, भक्त्या, प्रयच्छति,
तत्, अहम्, भक्त्युपहृतम्, अश्नामि, प्रयतात्मनः ।

यः=जो, मे=मुझे पत्रम्=पत्र, पुष्पम्=पुष्प, फलम्=फल, तोयम्=जल, भक्त्या=प्रेम से, प्रयच्छति=अर्पण करता है, प्रयतात्मनः=उस शुद्ध बुद्धि भक्त का, तत्=वह, भक्त्युपहृतम्=प्रेम से अर्पण किया हुआ, अहम्=मैं, अश्नामि=खाता हूँ ।

अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से ।
लेता प्रयत-चित भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से ॥

अर्थ—जो मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल प्रेम से अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि भक्त का वह प्रम से अर्पण किया हुआ मैं खाता हूँ ।

व्याख्या—यह एक स्पष्ट सत्य है कि परमेश्वर प्रेमभाव का भूखा है। भीलनी के बेरों और सुदामा के मुट्ठीभर तण्डुलों की कथा ने इस सत्य को आज भी ज्योतिर्मय किया हुआ है।

सत्यभामा श्रीकृष्ण को स्वर्ण और अनेकों आभूषणों से नहीं तोल सकी। रुक्मणि ने दो तुलसी दलों से ही तोल दिया।

विदुर ने प्रेम भाव से रूखे-सूखे भोजन को भी स्वादिष्ट बना दिया, दुर्योधन के अहंकार से मेवा-मिष्टान्न भी तामसी और नीरस होगये। प्रेम का भाव है जो रस और मधुरता उत्पन्न करता है।

परमेश्वर हो या मनुष्य, कोई किसी की वस्तु का भूखा नहीं होता। भक्त तुलसीदास ने व्यावहारिक नीति का सार कह दिया है—

आये आदर ना करे नयनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये कञ्चन बरसे मेह॥

मान का पान भी प्रिय होता है। भक्ति के रूपक में श्रीकृष्ण ने संसार को सद्व्यवहार करने का सुन्दर सन्मार्ग दिखाया है।

प्रेम के जल में भीगते ही साधारण वस्तु भी अभिमन्त्रित हो जाती है और लेने-देनेवाले को अभिन्न हृदय कर देती है।

विश्वरूप परमेश्वर से अभिन्न होने के दो साधन हैं—

१—भक्ति पूर्वक अर्पण करना।

२—प्रयत-चित्त होकर व्यवहार करना।

१. भक्ति पूर्वक अर्पण करना—

भक्ति एक सात्त्विक और दैवी कर्म है। भक्ति में कहीं विकार, कामना, असत्य, अपकार और पर-भाव नहीं होता। भक्ति-पूर्वक किये गये कर्म परमेश्वर स्वीकार करता है। भक्ति में सत्य, सेवा, श्रद्धा, मान, दया, धर्म, पवित्रता और अनन्यता का महायोग होता है। भक्ति पूर्वक किया गया छोटा-सा कर्म भी महान बन जाता है।

२. प्रयत-चित्त होकर व्यवहार करना—

प्रयत का अर्थ है—शुद्ध, पवित्र, संयत, निष्काम, सात्त्विक।

शुद्ध बुद्धि से, संयत चित्त से, पवित्र मन से और सात्त्विक तथा निष्काम भाव से कर्म करनेवाले को 'प्रयत चित्त' कहते हैं।

प्रयत-चित्त के कर्म सीधे परमेश्वर को पहुँचते हैं, उसका अर्पण किया हुआ परमेश्वर खाते हैं।

'अश्नामि' का साधारण अर्थ है—खाना। परन्तु परमेश्वर का खाना मनुष्य से भिन्न है। सत्य व्यवहार, से परमेश्वर का पेट भरता है।

'न ह वै देवा. अश्नन्ति न पिबन्ति एतद्देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।'

देवता न खाता है और न पीता है अमृत-भाव को देखकर वह तृप्त हो जाता है।

भक्तिवान् और प्रयत-चित्त नर-नारियों में सत्य और प्रेम का अमृत भाव रहता है। इसी भाव से परमेश्वर प्रसन्न होता है।

भक्त, भगवान् के किसी भी स्वरूप को प्रणाम करके श्रद्धानुसार जल, पुष्प, पत्र, फल आदि अर्पण करने के साथ ही अपने कर्मों को और स्वयं अपने-आपको भी भगवान् के श्रीचरणों में सादर समर्पित कर देता है। शुद्ध विकार-हीन और विनम्र होने के लिये भक्ति के समान दूसरा कोई साधन नहीं है। जन समाज की सेवा करने की शिक्षा, भक्ति पूर्वक परमेश्वर की पूजा करने से मिलती है। हनुमान्, अंगद, अर्जुन आदि की भांति भक्त, जनता-जनार्दन का सच्चा शक्तिशाली और निपुण सेवक वन जाता है। सेवक को अपने पवित्र और निष्काम भाव से अजेय वल मिलता है।

मनुष्य के पास अपना है क्या—तन, मन, धन? इनसे तो वोझ ही वढ़ता है, इन्हीं के कारण चाह चिन्ता राग द्वेष आदि नहीं छूटते, इन्हें भगवान का मानकर सच्चे और सरल भाव से इनका सदुपयोग करते ही जीवन आनन्द से भर जाता है। अपना सर्वस्व भगवान को सौंपते ही भक्त का भार हलका हो जाता है। अच्छे-बुरे कैसे भी कर्म हों उन्हें प्रभु के अर्पण करते ही जीवन धन्य हो जाता है।

२७

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

यत्, करोषि, यत्, अश्नासि, यत्, जुहोषि, ददासि, यत्,
यत्, तपस्यसि, कौन्तेय, तत्, कुरुष्व, मदर्पणम् ।

कौन्तेय=हे कौन्तेय, (तू) यत=जो कुछ, करोषि=करता है, यत्=जो अश्नासि=खाता है, यत्=जो, जुहोषि=हवन करता है, यत्=जो, ददासि=दान देता है, यत्=जो, तपस्यसि=तप करता है, तत्=वह मदर्पणम्=मेरे अर्पण, कुरुष्व=कर ।

कौन्तेय ! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी ।
नित खान-पानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी ।।

अर्थ—हे कौन्तेय ! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तप करता है वह मेरे अर्पण कर ।

व्याख्या—परस्पर संघर्ष, क्रान्ति, कोलाहल, सुख-दुःख, राग-द्वेष, व्याकुलता, अशान्ति, अतृप्ति, आशा, निराशा और विकार मनुष्य को चारों ओर से घेरे रहते हैं । कोई ही भाग्यशाली इन सबसे छूटकर मुक्त होता है । कर्म और कर्म के फल मे बँधनेवाला कभी मुक्त नहीं होता, परन्तु जो परमेश्वर के लिये कर्म करता है वह सदा सुखी और जीवन-मुक्त होकर आनन्द से विचरता है ।

विश्व व्यापी अशान्ति का मूल कारण स्वार्थ और व्यक्तिगत सुख है। विषमता और वस्तुओं के असमान वितरण से संसार में असन्तोष और दुःख बढ़ता है।

इस अशान्ति को दूर करने का एकमात्र उपाय समर्पण भाव है। मनुष्य, विश्व पुरुष के लिये कर्म करनेवाला बने, प्रत्येक कर्म को करने से पहले उसे ध्यान रहे कि मेरा कर्म विश्वपति के पास पहुँचेगा, उस कर्म से कहीं अनर्थ, अशान्ति, असन्तोष अथवा अव्यवस्था तो नहीं होती—इतना विचार कर लेना ही खाने-पीने, लेने-देने आदि प्रत्येक कर्म को परमात्मा के अर्पण कर देना है।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता की सचेतन और प्राणवान् शक्ति इसी समर्पण भाव में है। तन भगवान् का, मन भगवान् का फिर उनमें कर्म करनेवाला भी भगवान् ही होना चाहिये। मनुष्य पाप कर्म करके नरक में क्यों पड़े ? किसी को दुःख क्यों दे ? दया, धर्म, सत्य, अहिंसा सब की शक्ति परमेश्वर है। परमेश्वर को प्रसन्न करना ही मानवधर्म है। इस दुःखों से भरे जगत् में नश्वर मिट्टी के तन को स्वर्ण जैसा तेजस्वी और गौरवशाली बनानेवाला परमेश्वर है। परमेश्वर ने जो कुछ दिया है, उसका रत्ती-रत्ती हिसाब मनुष्य को देना पड़ता है। परन्तु उसका दिया हुआ जो प्रेम से उसेही दे-देता है, वह परमेश्वर को मोल ले लेता है। मीरा ने प्रेम की तराजू पर तोल कर प्रभु को मोल ले लिया था—

'मैंने गोविन्द लीनो मोल !'

प्रभु को अपना बना लेने अथवा उसके बन जाने के लिये—

१—जो कुछ करो, वह भगवान् के अर्पण कर दो।

२—जो कुछ खाओ, वह भगवान् के अर्पण कर दो।

३—जो कुछ हवन करो वह भगवान् के अर्पण कर दो।

४—जो कुछ दान दो अथवा तप करो वह भगवान् के अर्पण कर दो।

१. जो कुछ करो वह भगवान् के अर्पण कर दो—

मनुष्य जो कुछ करता है, उसका फल उसे मिलता है। उस फल को भगवान् के अर्पण कर देने से वह मधुर हो जाता है। भगवान् की भावना से किये गये कर्म में सयम और पवित्रता स्वयं आ जाती है। कर्म और भक्ति को एक कर देने का काम 'समर्पण-भाव' करता है। कर्मों को भगवान् के लिये करने से भक्ति अथवा निष्काम कर्म की साधना होती है।

२. जो कुछ खाओ, वह भगवान् के अर्पण कर दो—

सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करने में भोजन, हवन और दान भी अर्पण करने का भाव आ जाता है। परन्तु भोजन, हवन और दान से मनुष्य की वृत्ति बनती है। अत कर्मों को अर्पण-भाव से करने के लिये और जीवन को पवित्र तथा सात्त्विक बनाने के लिये जो कुछ खाया जाय, उसे भगवान् को अर्पण करना चाहिये।

भोजन से मनुष्य जीवित रहता है। मन और बुद्धि को बनानेवाला भोजन है। अपवित्र दूषित और तामसी भोजन से सात्त्विक विचारों का विकास दब जाता है।

परमेश्वर को भोग लगाकर खाने से भोजन सात्त्विक और जीवनी शक्ति देनेवाला हो जाता है। परमेश्वर उसी भोग को स्वीकार करता है जो परिश्रम की कमाई का हो, पवित्र हो और जिसके खाने-खिलाने में प्रेम तथा सद्भावना हो।

परमेश्वर को भोग लगाकर, प्रार्थना करके, स्थिर चित्त से,

आनन्द पूर्वक किये गये भोजन से दैवीशक्ति और बुद्धि अनायास ही मिल जाती है।

श्रद्धापूर्वक भक्तिभाव से भगवान् को अर्पण किये हुए भोजन में आश्चर्यजनक वृद्धि होती है। वनवासी पाण्डवों और द्रौपदी के पास क्या था? परन्तु उनके द्वार पर आये हुए सैंकड़ों महात्माओं और ऋषियों का पेट स्वयं भर गया। द्रौपदी ने भोग लगाकर भगवान् को तृप्त कर दिया था। जहां भगवान् तृप्त हो जाते हैं वहां किसी प्रकार का घाटा और अकाल नहीं पड़ता।

३. जो कुछ हवन करो, वह भगवान् के अर्पण कर दो—

मनुष्य का शरीर एक पवित्र हवन कुण्ड है। इन्द्रियों के कर्मों द्वारा इसमें नित्य आहुतियें पड़ती हैं। भगवान् की प्रसन्नता के लिये आहुति डालनेवाला सदा सुखी और मुक्त रहता है। ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों और अन्तःकरण से शरीर में स्थित देवताओं को प्रसन्न करने के लिये कर्म करनेवाला अपनी प्रत्येक आहुति को भगवान् के अर्पण करता है।

हवन एक पवित्र कर्म है। कुछ महानुभाव हवन करते हुए अन्न, घृत आदि की आहुति देकर वातावरण पवित्र बनाते हैं और कुछ परमार्थ और सेवा की वेदी पर अपने तन-मन की ही आहुति दे देते हैं। संयम, ध्यान, पूजा-कर्म, शुभ अनुष्ठान आदि भी यज्ञ करने के समान ही हैं। अतः जो भी और जैसे भी आहुति दी जाय, वह सब निर्मल, निर्विकार, निःस्वार्थ और निरहङ्कारी भाव से होनी चाहिये, तभी हवन किया हुआ परमेश्वर के अर्पण होता है।

४. दान और तप भगवान के अर्पण कर दो—

किसी भी भाव से किसी भी प्रकार दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं

जाता। आदान-प्रदान सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। ब्रह्मा ने मुक्ति की इच्छा करने वाले मनुष्य को दान करने का उपदेश दिया है। दान, दया और दम तीनों दिव्यकर्मों के साधक है।

दान और तप को परमेश्वर के अर्पण करने से अहंकार का सिर नहीं उठता; सात्त्विक और श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप जो मान, प्रतिष्ठा, प्रभुता, पद, सम्पन्नता, धन, बल, बुद्धि आदि की प्राप्ति होती है उसका अभिमान प्रायः मनुष्य को गिरा देता है। दान और तप को परमेश्वर के अर्पण कर देने से भोक्ता रूप परमेश्वर प्रत्येक अवस्था मे मनुष्य के साथ रहकर उसे विकारों से बचाता है।

तप-दान, खान-पान यज्ञ आदि जो कुछ हो वह परमेश्वर के लिये होना चहिये। प्रत्येक कर्म करने से पहले उसे हृदय से परमेश्वर को अर्पण करने का भाव उठते ही वह कर्म स्वयं पवित्र हो जाता है और उससे सुख, शान्ति तथा सम्पन्नता का फल मिलता है। साधारण कर्मों को भी परमेश्वर के साथ जोड़ देने से उसमें शक्ति भर जाती है।

तप, यज्ञ, दान, भोजन, भजन और प्रत्येक कर्म करते हुए सत्य तथा तप का सहारा लेने से अर्पण भाव बनता है।

मनुष्य सदाचारी, चरित्रवान और उन्नत होने के लिये प्रयत्न करता है, परन्तु मन प्रयत्न करने पर भी नहीं मानता, अभ्यास करते-करते भी संयम नहीं होता, इन्द्रियाँ अपनी हठ के सामने एक नहीं सुनतीं और बुद्धि, ज्ञान से टकरा-टकरा कर चूर हो जाती है। ऐसी दशा में अर्पण भाव ही सहायक होता है। ईश्वर-अर्पण-बुद्धि के द्वारा मन और इन्द्रियों से काम लेना सब साधनों की महाशक्ति है।

सहज स्वभाव से कर्म में भगवद्भाव आते ही जीव, कर्म-बन्धन से छूट जाता है।

१८

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

शुभाशुभफलैः, एवम्, मोक्ष्यसे, कर्मबन्धनैः,
संन्यासयोगयुक्तात्मा, विमुक्तः, माम्, उपैष्यसि ।

एवम्=इस प्रकार, संन्यासयोगयुक्तात्मा=संन्यास योग से युक्त हुआ (तू), शुभाशुभफलैः=शुभ अशुभ फल के, कर्मबन्धनैः=कर्मबन्धन से, मोक्ष्यसे=मुक्त हो जायगा, (और) विमुक्तः=मुक्त होकर, माम्=मुझे, उपैष्यसि=प्राप्त होगा ।

हे पार्थ ! यों शुभ-अशुभ-फल-प्रद कर्म-बन्धन-मुक्त हो ।
मुझमें मिलेगा मुक्त हो संन्यास-योग नियुक्त हो ॥

अर्थ—इस प्रकार संन्यासयोग से युक्त हुआ तू शुभ-अशुभ फल के कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायगा और मुक्त होकर मुझे प्राप्त होगा ।

व्याख्या—साधारण जन समाज इस भ्रम में रहता है कि अच्छा या बुरा करने और करानेवाला भाग्य और परमेश्वर है। प्रायः अपनी हीन और निर्बल अवस्था में मनुष्य ऐसी कल्पना करता है। परमेश्वर ने मनुष्य को सुन्दर तन, बुद्धि, विचार और कर्म करने की अद्भुत शक्ति दी है। कर्म से मनुष्य देवता के पास तक पहुँचता है, इतना ही नहीं वरन् देव रूप हो जाता है। कर्म से मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता बनता है। अच्छे और बुरे जैसे उसके कर्म होते हैं,

वैसा ही उसे भाग्य और परमेश्वर मिलता है। कर्म, भाग्य और परमेश्वर की पहेली तर्क से नहीं भक्ति-सहित कर्म से सुलझती है। भक्ति-सहित कर्म ही रचनात्मक कर्म है।

कर्म शुभ हो या अशुभ, उसका वन्धन जीव को वांधे विना नहीं रहता।

पाप कर्म कृत किंचिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु॥ (म० शा०)

हे राजन्! किसी मनुष्य को उसके पापों का फल मिलता न दिखे तो यह निश्चित जानों कि उसके पुत्र पौत्रों और प्रपौत्रों को वह फल भोगना पड़ेगा।

राम के वाण की भांति कर्म का फल प्राणी के पीछे-पीछे चलता है, देव दानव कोई भी जीव को कर्म भोगों से वचाने में समर्थ नहीं है। कर्मों को प्रभु के चरणों मे अर्पण कर देने से और सत्य तथा प्रेम-सहित आत्म-निवेदन करने से ही कर्म के वन्धन छूटते हैं।

गीता ने कर्म-वन्धन से छूटने का अचूक उपाय वताया है—'जो कुछ करो वह सव भगवान् के अर्पण कर दो।' ऐसा करने से—

१—संन्यासयोग सिद्ध हो जाता है।

२—शुभ और अशुभ कर्मों का वन्धन नहीं वाँधना।

३—मनुष्य मुक्त होकर परमेश्वर मे मिल जाता है।

१. संन्यासयोग सिद्ध हो जाता है—

कर्म छोड़ देने को अथवा निवृत्ति को ही संन्यास नहीं कहते—कर्मों के फल को छोड़ देना सच्चा संन्यास है।

भगवान् के लिये कर्म करने से संन्यास की पूर्णता होती है। प्रवृत्ति मे निवृत्ति अथवा कर्म मे अकर्म का दर्शन, अर्पण भाव से

होता है। गृहस्थ में रहकर और संसार के व्यवहार करते हुए भी संन्यासी के समान निर्विकार, निर्लेप, उदार, सावधान तथा मुक्त रहने का उपाय केवल अर्पण-बुद्धि से कर्म करना है।

२. शुभ और अशुभ कर्मों का बन्धन नहीं बाँधता—

कर्म के फल को भगवान् के अर्पण करने से दोहरा लाभ है—आनन्द और पवित्र ऐश्वर्य भी मिलते हैं और जीवन-मुक्ति भी। परमेश्वर को कर्म सौंप देने से मनुष्य कर्म करते-करते कभी थकता नहीं, रचनात्मक कार्य होते रहते हैं, विनाशात्मक कर्मों का अन्त हो जाता है, विश्व-शान्ति के लिये विशेष दौड़-धूप नहीं करनी पड़ती, सब सुखी रहते हैं और कोई किसी को दुःख तथा धोखा देने का विचार नहीं करता।

जो शुभ फल को भोगना चाहता है, उसे अशुभ भी भोगना पड़ता है। सुख-भोग और शुभ कर्मों को परमेश्वर के अर्पण कर देनेवाला अशुभ से स्वयं छूट जाता है।

३. मनुष्य मुक्त होकर परमेश्वर में मिल जाता है—

परमेश्वर आनन्द रूप है, वही प्रेम रूप है। परमेश्वर ही सत्य है। परमेश्वर को पाने का अर्थ है—सेवा, प्रेम, सत्य और आनन्दमय जीवन बना लेना। मनुष्य-मात्र में स्थित परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये जो सबके लिये कर्म करता है अथवा अपने कर्मों को परमेश्वर के अर्पण कर देता है वही परमेश्वर को पाता है। विश्व-कल्याण, विश्व-शान्ति, परम-सुख, अखण्ड-आनन्द अथवा मुक्ति के लिये अपने भोगों, स्वार्थों, विकारों तथा सम्पूर्ण कामनाओं को सेवा और सत्य रूप परमेश्वर के चरणों में अर्पण कर देना चाहिये।

परमेश्वर सबके साथ समान व्यवहार करता है। मनुष्य अपने विषम व्यवहार से संसार में विषमता बढ़ाता है।

२९

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

समः, अहम्, सर्वभूतेषु, न, मे, द्वेष्यः, अस्ति, न, प्रियः, ये, भजन्ति, तु, माम्, भक्त्या, मयि, ते, तेषु, च, अपि, अहम् ।

अहम्=मैं, सर्वभूतेषु=सब भूतो मे, सम=समभाव से हूँ, मे=मेरा, न=न कोई, द्वेष्य=अप्रिय अस्ति=है, (और) न=न, प्रिय=प्रिय है, तु=परन्तु, ये=जो, माम्=मुझे, भक्त्या=भक्ति से, भजन्ति=भजते हैं, ते=वे, मयि=मुझमे, च=और, अहम्=मैं, अपि=भी, तेषु=उनमे हूँ ।

द्वेषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा ।
पर भक्त मुझमें बस रहा, मैं भक्त के मन में बसा ॥

अर्थ—मैं सब भूतो में समभाव से हूँ, मेरा न कोई अप्रिय है और न प्रिय है परन्तु जो मुझे भक्ति से भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें हूँ ।

व्याख्या—परमेश्वर की पूजा-वन्दन करने का आदेश गीता तथा प्राय: सभी धर्म-शास्त्रों में है। परमेश्वर की शरण लेकर अपने सम्पूर्ण कर्मों को उनके अर्पण कर देना ही भक्त का सर्वोत्तम कर्त्तव्य है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्धयात्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥
(भाग० ११।२।३६)

तन, मन, वचन, इन्द्रिय, बुद्धि और चित्त से अथवा स्वभाव से हम जो कुछ कर्म करते हैं, वह सब परात्पर पुरुष नारायण के समर्पण करना चाहिये।

श्रद्धावान और भगवान में विश्वास रखनेवाले भक्त के लिये ऐसा आदेश सरलता से ग्राह्य हो सकता है; परन्तु एक प्रज्ञावादी और तार्किक को शंका होती है कि परमेश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है, जो उसके आधीन होकर रहता है और उसका नाम लेकर अथवा ध्यान लगाकर अपना सर्वस्व उसके अर्पण कर देता है—यह भी एक प्रकार से पराधीनता है।

गीता इस प्रकार की शंकाओं का निश्चित और स्पष्ट समाधान कर देती है।

'समोऽहं सर्वभूतेषु।'

मैं सब भूतों में समभाव से हूँ।

परमेश्वर प्राणिमात्र में समान रूप से रहता है। वह सबका है, सब उसके हैं, जगत् में कोई पराया नहीं है। अन्य भाव आते ही प्राणी अपने आत्म-रूप को भूल जाता है—यही परमेश्वर का विस्मरण है। स्मरण में सुख है और विस्मरण में दुःख। मनुष्य कर्मों से सुख-दुःख के फेर में पड़ता है। परमेश्वर सबके साथ समान व्यवहार करता है। भजन के प्रभाव से आत्म-बल स्वयं बढ़ जाता है।

अपने अन्दर रहनेवाले परमेश्वर को मान देना अपना ही सम्मान है, उसका स्मरण करना प्रत्येक परिस्थिति में अपने स्वरूप का ध्यान रखना है और परमेश्वर के आधीन रहना अपनी आत्मा के आधीन रहना है। आत्मा ही परमात्मा है। आत्म-सम्मान, आत्म-ज्ञान और आत्म-संयम इन तीनों से पुरुष, पुरुषोत्तम रूप बन जाता है।

परमेश्वर को अन्य अथवा दूसरा माननेवाला दास अथवा पराधीन है। परमेश्वर को स्व अर्थात् अपना स्वरूप जाननेवाला सदा स्वाधीन है। आत्मा के आधीन रहनेवाला परमेश्वर को जानता है, इन्द्रियों का दास अपने मे प्रतिष्ठित परमेश्वर को नहीं जान पाता। परमेश्वर की पूजा-वन्दना, स्मरण-ध्यान आदि इन्द्रियों के बन्धन से छूटने और पवित्र होने के लिये हैं—पराधीन होने के लिये नहीं।

न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

मेरा न कोई अप्रिय है और न प्रिय है।

परमेश्वर किसी को दुःख नहीं देता। उसे किसी के पाप-पुण्य से भी कोई प्रयोजन नहीं है। दरिद्री-धनी, निर्बल-बलवान, मूर्ख-विद्वान सबके लिये उसकी कृपा का द्वार समान रूप से खुला रहता है। अमृत की ओर जानेवाला अमृत रूप भगवान को पाता है, मृत्यु रूप दुष्कर्मों की ओर जानेवाला काल रूप परमेश्वर को देखता है—

'कराल महाकाल काल कृपालम।' —तुलसीदास

परमेश्वर महाकाल भी है और महा कृपालु भी है। वह साक्षी और न्यायकारी है, ससार मे जो कुछ विषम-भाव है, वह मनुष्य के कर्मों, अज्ञान और राग-द्वेष से है।

'यद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पुण्य गुण दोषू॥
कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥'

—तुलसीदास

इतना होने पर भी वह सदा सहायक सबका साथी और

आश्वासनदाता है। सुख के समय में वह संयम देता है और दुःख के समय धैर्य बँधाता है। परन्तु जो उससे विमुख हो जाता है वह कुछ नहीं पाता। ज्ञान, बल, बुद्धि और जगत् का सहारा नदी के किनारे रेत की दीवार के समान है। परमेश्वर के सहारे में दृढ़ता स्थायित्व और प्रकाश है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने स्पष्ट आश्वासन दिया है—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।

जो मुझे भक्ति से भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें हूँ।

भक्ति से अपने में स्थित परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। जैसे निर्मल और स्थिर जल में अपनी छाया दीखती है, उसी प्रकार माया-रहित निश्चल पवित्र कर्त्तव्य-परायण और चरित्रवान मनुष्य परमेश्वर को अपने में देख लेता है।

भक्ति से परमेश्वर का भजन वही करता है जो राग-द्वेष, छल-कपट, असत्य और आलस्य को छोड़कर सत्यरूप निर्विकार परमेश्वर की ओर बढ़ता है। परमेश्वर सर्वत्र है परन्तु मिलता उन्हीं को है जो उससे मिलने के लिये प्रयत्न करते हैं।

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥'

आत्मा अथवा परमात्मा सत्य, तप, सम्पूर्ण ज्ञान और ब्रह्मचर्य द्वारा ही मिलता है।

परमेश्वर को जानने और प्रत्यक्ष देखने के लिये असत्य, व्यभिचार, छल-कपट आदि दुरितों को छोड़ना पड़ता है। जिन राजर्षियों और ब्रह्मर्षियों ने राष्ट्र के रूप में विश्वतोमुख परमेश्वर की सेवा की, विश्व-शान्ति और प्राणियों को दुःखों से छुड़ाने का संकल्प

किया है, उन्होंने सर्व प्रथम सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदि की दीक्षा ली है तभी वे राष्ट्र को बल, विक्रम और ओज से भर सके—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥
(अथर्व० १९।४१।१)

जो इस प्रकार सेवा, सत्य और सात्त्विक स्वभाव से परमेश्वर की भक्ति करता है, उसे उसी के प्रयत्नों से परमेश्वर मिल जाता है। जैसे सूर्य की ओर मुख करके खड़े होनेवाले के लिये सूर्य सन्मुख रहता है, मुख फेर लेनेवाले के लिये सूर्य पीछे हो जाता है और किसी वृक्ष की ओट में, भवन मे अथवा गुफा में जानेवाले को सूर्य दीखता भी नहीं, इसी प्रकार सर्वव्यापी और राग-द्वेष रहित परमेश्वर अपनी ओर देखने एवं न देखनेवाले तथा पास और दूर रहनेवाले सब पर समान कृपा करता है। भक्तजन उसकी कृपा सिर-माथे पर लेते हैं और अभक्त उससे लाभ नहीं उठा पाते। अग्नि अपने पास बैठनेवाले को उष्णता देता है, चुम्बक सम्पर्क में आनेवाले लोहे को ही खींचता है। जो परमेश्वर के सन्मुख जाता है उसे परमेश्वर की शक्ति, कृपा और समदृष्टि का उपहार मिलता है—

'सन्मुख होहि जीव मोहि जब ही।
कोटि जनम अघ नासों तब ही ॥'

परमेश्वर के सन्मुख पहुँचने का प्रयत्न ही परम पुरुषार्थ है। ज्ञान पूर्ण सात्त्विक पुरुषार्थ ही परमेश्वर का भजन है। भजन करनेवाले विषय-विकारों की नींव पर खड़ी होनेवाली माया की दीवार को तोड़ देते हैं और अपने अभिन्न साथी को प्रत्यक्ष देखते हैं। ऐसा भजन करनेवाले सदा सब प्रकार परमेश्वर में रहते हैं और

३०

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

अपि, चेत्, सुदुराचारः, भजते, माम्, अनन्यभाक्, साधुः, एव, सः, मन्तव्यः, सम्यक्, व्यवसितः, हि, सः।

सुदुराचार=अतिशय दुराचारी, अपि=भी चेत्=यदि, माम्=मुझे, अनन्यभाक्=अनन्यभाव से, भजते=भजता है, (तो) सः=वह साधुः=साधु, एव=ही, मन्तव्य=मानने योग्य है, हि=क्योंकि, स=वह, सम्यक् व्यवसित=ठीक निश्चयवाला है।

यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये।
है ठीक निश्चयवान् उसको साधु कहना चाहिये ॥

अर्थ—अतिशय दुराचारी भी यदि मुझे अनन्य भाव से भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है क्योंकि वह ठीक निश्चयवाला है।

व्याख्या—दुराचारी को सदाचारी और दानव को देवता बना देनेवाला केवल सत्य और भजन का संकल्प है। मनुष्य और देवता मे इतना ही भेद है कि देवता सत्य से शुद्ध रहते हैं और मनुष्य भूठ मे सना रहता है—

'सत्यमेव देवा अनृत मनुष्या।'

(शत० १।१।१।४)

सत्य की ओर जानेवाला मनुष्य देवत्व की ओर बढ़ता है, सत्य रूप परमेश्वर का भजन करनेवाला भक्त झूठ के बन्धनों को तोड़ देता है। भोग-विलास और विषय-वासनाओं के नरक से निकलकर वह विराट् जीवन में प्रवेश करता है। मनुष्य-जीवन का यही सदुपयोग है कि वह दुःख, रोग, दरिद्रता, अज्ञान और विनाश से बचकर सुख, स्वास्थ्य, सम्पन्नता, ज्ञान तथा मुक्ति की ओर बढ़ता चले। किसी ओर न देखकर एकमात्र अपने ध्येय-रूप परमेश्वर की ओर देखना ही भक्त जीवन का चिह्न है। ऐसा करनेवाला चाहे घोर दुराचारी ही क्यों न रहा हो, परन्तु शुद्ध बुद्धि और दृढ़ निश्चय होते ही वह अनृत और दुष्कर्मों से छूट जाता है।

परमेश्वर का स्मरण मनुष्य को कोटि-कोटि पापों से छुड़ाने वाला है—

राम नाम जब प्रकट हो करत पाप को नास।
जैसे चिनगी आग की धरी पुरानी घास॥

भगवान का भजन पुराने पापों को भस्म करता है और नये पाप होने नहीं देता। भजन के साथ पापों के होने से भजन में अनन्यता नहीं आती। प्रकाश और अंधकार, सत्य और असत्य, पुण्य और पाप, अमृत और विष में जैसे विरोध है इसी प्रकार भजन और दुष्कर्मों में है। छल-कपट, झूठ, व्यभिचार आदि दुराचारों को छोड़कर कर्म करना परमेश्वर का सच्चा भजन है। किसी ओर मन न जाने देकर अनन्य-भाव से भजन करने का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है।

अनन्य-भक्ता गोपियों ने श्रीकृष्ण से एक बार यमुना-पार करने का उपाय पूछा था।

श्रीकृष्ण ने कहा—"गोपियो ! तुम यमुना के किनारे जाकर मेरे ब्रह्मचर्य और चरित्र का स्मरण करना, तुम्हें मार्ग मिल जायगा" पवित्र-स्मरण का पुण्य-प्रभाव बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

'य मा स्मृत्वाऽगाधा गाधा भवति ।
य मा स्मृत्वाऽपूतः पूतो भवति ।
य मा स्मृत्वाऽव्रती व्रती भवति ।
य मा स्मृत्वाऽश्रोत्रिय श्रोत्रियो भवति ।'
(गोपालोत्तरता० उप० १ । २)

मेरे स्मरण से अथाह की थाह मिल जाती है।
मेरे स्मरण से अपवित्र भी पवित्र हो जाता है।
मेरे स्मरण से व्रत-हीन भी व्रतधारी हो जाता है।
मेरे स्मरण से अज्ञानी, ज्ञानी बन जाता है।

भजन के बल और प्रभाव से हनुमान ने अनन्त सिन्धु को पार कर लिया, लंका दहन किया, पर्वतों को उठाया और अद्भुत कर्म किये। भजन कल्प-वृक्ष के समान फलदायक है।

प्रायः नर-नारी पापों के प्रायश्चित के लिये जप, तप, मौन-व्रत, अनुष्ठान आदि करते हैं, परन्तु इनके द्वारा नष्ट हुए पाप फिर आ घेरते हैं क्योंकि पापों का मूल मनुष्य के अन्त करण मे है। अन्त.करण की शुद्धि हो जाने पर ही प्रायश्चित आदि सफल होते हैं।

अन्त.करण को पवित्र करनेवाला महात्मा कहा जाता है। पवित्रता देनेवाला परमेश्वर का भजन है।

इस छोटे से जीवन मे बड़ा कार्य करने के लिये एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। पापों को बढ़ाने या प्रोत्साहन देने से मन और बुद्धि की पवित्रता तथा शक्ति नष्ट हो जाती है और भजन करने की शक्ति नहीं रहती।

ज्ञान तपस्वी श्री भर्तृहरि ने सत्य की खोज का परिणाम स्वर्णाक्षरों में लिख दिया है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः॥
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्य. प्रयत्नो महान्।
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

जब तक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति पूरी बनी हुई है और आयु के दिन शेष हैं, तभी तक विचारशील नर-नारियों को अपने अभ्युदय और श्रेय के लिये अच्छे से अच्छे प्रयत्न कर लेने चाहियें—घर में आग लग जाने पर कुआं खोदने से क्या होगा।

देखते-देखते जीवन बीता जाता है एक-एक दिन में जवानी जा रही है। गया दिन कभी लौटकर नहीं आता, अतः पापों की गठरी भारी न करके इसी क्षण से भजन करने का निश्चय कर लेना चाहिये।

भजन का आश्रय लेनेवाला धीरे-धीरे अन्तःकरण को पवित्र करके साधु बन जाता है। साधु उस पवित्र और चरित्रवान् को कहते हैं—जिसमें ममता-मोह को रहने का स्थान नहीं मिलता, जो अनासक्त, उदार तथा सत्यनिष्ठ होता है, जिसका जीवन प्रेम, परमार्थ, सेवा और परम पुरुषार्थ के लिये है और जो नित्य निरन्तर अपना रूपान्तर करता हुआ ब्राह्मीस्थिति की ओर चलता है।

साधुजनों से जगत् सुखमय, उन्नतिशील और सम्पन्न बन जाता है।

दृढ़ निश्चय से परमेश्वर की ओर बढ़नेवाले पाप-कर्मों को छोड़ देते हैं। उन्हें आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सर्वत्र परमेश्वर दीखता है। ऐसी स्थिति में रहनेवाला शीघ्र ही मानसिक शान्ति प्राप्त कर लेता है।

३१

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

क्षिप्रम्, भवति, धर्मात्मा, शश्वत्, शान्तिम्, निगच्छति,
कौन्तेय, प्रति, जानीहि, न, मे, भक्तः, प्रणश्यति ।

(वह) क्षिप्रम्=शीघ्र ही धर्मात्मा=धर्मात्मा, भवति=हो जाता है
(और) शश्वत=नित्य शान्तिम्=शान्ति को, निगच्छति=प्राप्त करता है,
कौन्तेय=हे कौन्तेय, प्रति=सत्य, जानीहि=समझो, मे=मेरा,
भक्त=भक्त, न=नहीं प्रणश्यति=नष्ट होता ।

वह धर्म-युत हो शीघ्र शाश्वत शान्ति पाता है यहीं ।
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं ॥

अर्थ—वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति को प्राप्त करता है। हे कौन्तेय! सत्य समझो, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

व्याख्या—भक्ति-सहित कर्म करता हुआ आगे बढनेवाला शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, चाहे वह कोई भी हो और उसका कैसा भी आचरण रहा हो। भगवान् की ओर जाने का निश्चय, बुद्धि को पवित्र कर देता है, मन को विषय-विकारों से हटा देता है और प्राणी को धर्म के पथ पर ले आता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने तीन आश्वासन दिये हैं—

१—भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है।

२—भक्त को नित्य शान्ति मिलती है।

३—भक्त का कभी विनाश नहीं होता।

१. भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है—

प्रत्येक प्राणी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करता है। गुणों और स्वभाव में भगवत्कृपा से ही परिवर्तन होता है। प्रायः जैसा जिसका स्वभाव बन जाता है, वह वैसे ही कर्म करता है। यद्यपि भाग्य और पुरुषार्थ पर जीवन की प्रगति अवलम्बित है, परन्तु गुरु और परमेश्वर की भक्ति में मनुष्य का रूपान्तर करने की अद्भुत शक्ति है।

ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, वाल्मीकि, भरत, हनुमान, अंगद आदि के चरित्र भक्ति की महाशक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

दुराचारी और दुष्टजन भी भक्ति के प्रभाव से धर्मात्मा बन जाते हैं। धर्मात्मा अथवा धर्मशील उसे कहते हैं जो जीवन को निर्विकार, पवित्र, उन्नत, महान् और सफल बनाने की कला को जानता है।

गीता के अनुसार जो कर्म करने में कुशल होता है, जिसकी बुद्धि के निश्चय का मेरुदण्ड अडिग रहता है और जो समभाव में स्थित होकर कर्म करता है, उसे कर्मयोगी कहते हैं। जो कर्मयोगी अपने सम्पूर्ण कर्मों को विश्वपुरुष के अर्पण कर देता है और पवित्र कर्मों द्वारा उसकी पूजा करता है, उसे कर्त्तव्य-परायण भक्त कहते हैं। कर्म और भक्ति के योग से जिसके हृदय-सिंहासन पर बैठकर ज्योतिर्मय भगवान अपना अलौकिक प्रकाश कर देते हैं, उसे ज्ञानी कहते हैं। कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों को एक करके धारण करने-वाला धर्मात्मा कहा जाता है।

धर्म मे कर्त्तव्य-पालन, सत्य, सेवा, प्रेम, ज्ञान और वे सम्पूर्ण गुण निवास करते है, जिनसे अभ्युदय और श्रेय होता है। धर्म से जीव और जगत् की स्थिति है। धर्म-हीन देश, समाज और व्यक्ति के चरित्र का पतन हो जाता है। धर्म-हीनता से सत्य का सूर्य मिथ्याचार के मेघों से ढक जाता है, सर्वत्र अशान्ति रहती है, अतृप्ति का पेट बड़ा हो जाता है और दुराचार स्वच्छन्द विचरते है। सम्पूर्ण आधि-व्याधि, अकाल, रोग और भौतिक प्रकोप धर्म-हीनता का सहारा लेकर बढ़ते हैं।*

दु खों और दुरितो से छूटकर धर्मात्मा होने के लिये भक्ति के समान दूसरा कोई साधन नहीं है। अपने सात्त्विक लोक-हितकारी और देव-पूजा के कर्मों से भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है।

२. भक्त को नित्य शान्ति मिलती है—

संसार मे प्राय. किसी न किसी प्रकार की अशान्ति रहती है। अशान्ति की जड़ कामना है। आवश्यकतायें जितनी अधिक बढ़ती है, उतनी ही जीवन मे कृत्रिमता आती है। जीवन की सरलता को जब तड़क-भडक, संग्रह-बुद्धि और छल-कपट ढक लेते है, तब अशान्ति भडकती है।

भक्तजन राग-द्वेष, छल-कपट और माया-ममता से दूर रहने की कामना करते है। सादे जीवन और उच्च विचारों से भक्तजन जगत् को पवित्र और महान् बनाते है, उनके कर्मों का बोझ विश्वरूप परमेश्वर उठा लेता है। भक्तजनों की सेवा करके जगत् प्रसन्न होता है। भक्तजन अपने कर्मों से ससार को सुखी बनाते है और सरलता से शाश्वत शान्ति पा लेते है। शान्ति, तृप्ति और दैवी वृत्ति एक क्षण के

---

*धर्म का रहस्य 'गीता के सप्त स्वर' पुस्तक मे देखिये।

लिये भी भक्त को नहीं छोड़ती।

३. भक्त का कभी विनाश नहीं होता—

संसार जिसकी सेवा करके सुखी होता है, परमेश्वर जिसे प्रेम करता है और जो सत्य, सेवा तथा परमार्थ के लिये जीवित रहता है; उसका विनाश कैसे हो सकता है? जनता उसे अपना नेता बनाती है, देश-विदेश में उसकी कीर्ति फैल जाती है। कुशलता, सावधानी, सत्य, प्रज्ञा आदि से उसकी प्रतिभा निरन्तर बढ़ती है और परमेश्वर उसके साथ रहता है। वह किसी भी प्रकार की आपत्तियों और शत्रुओं से भयभीत नहीं होता—

'कहा करे बैरी प्रबल जो सहाय रघुवीर।
दस हजार गज बल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर॥

व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से किसी भी अवस्था में भक्त का पतन नहीं होता।

भक्ति से सृष्टि सम्पन्न और आनन्दमयी बन जाती है—

'क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥' (भक्तिरसामृत)

भक्ति क्लेशों को काट देती है, सदा शुभ करती है, भक्ति से मुक्ति मिलने में कोई कठिनाई नहीं होती कठिन कार्य सरलता से हो जाते हैं और जो बड़े-बड़े कठोर साधनों से नहीं होता, वह सब शीघ्र ही मिल जाता है। भक्ति आत्मा को आनन्द विभोर कर देती है और भगवान् को भक्त के समीप ले आती है।

यह सत्य समझो कि भगवान् किसी भी अवस्था में भक्त का पतन नहीं होने देते। भक्त की हानि, दुःख, पराजय, अपकीर्ति भगवान् की अपकीर्ति है। जो भक्त इस सत्य को जानता है, उसके लिये भगवान् परम पद सुलभ कर देते हैं—

३२

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

माम्, हि, पार्थ, व्यपाश्रित्य, ये, अपि, स्युः, पापयोनयः, स्त्रियः, वैश्याः, तथा, शूद्राः, ते, अपि, यान्ति, पराम्, गतिम् ।

पार्थ=हे पार्थ, स्त्रियः=स्त्री, वैश्याः=वैश्य, शूद्राः=शूद्र, तथा=तथा, ये=जो, अपि=भी, पापयोनयः=पाप योनिवाले, स्युः=हैं, ते=वे, अपि=भी, माम्=मेरी, व्यपाश्रित्य=शरण लेकर, हि=निश्चय ही, पराम्=परम, गतिम्=गति को, यान्ति=प्राप्त होते है ।

पाते परम-पद पार्थ ! पाकर आसरा मेरा सभी ।
जो अड़ रहे हैं पाप-गति में, वैश्य वनिता शूद्र भी ॥

अर्थ—हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा जो भी पाप योनिवाले हैं, वे भी मेरी शरण लेकर निश्चय ही परमगति को प्राप्त होते है ।

व्याख्या—जगत् के व्यवहार में स्वधर्म का आचरण करनेवाला परमेश्वर का सच्चा भजन करता है । कर्त्तव्य-पालन और भजन दोनों में अनन्य सम्बन्ध है और एक से दूसरे को बल मिलता है । परमेश्वर की शरण मे जाना भजन का सर्वश्रेष्ठ साधन है ।

कैसा भी कर्म करते हुए परमेश्वर को न भूलना, उसी की आज्ञा से, उसकी प्रसन्नता के लिये जीवन को सब प्रकार उसी के हाथों में

सौंप देना, चाह-चिन्ता, छल-कपट आदि से छूटकर अपनी कोई हठ न रखना सब प्रकार परमेश्वर की इच्छाओं में अपनी इच्छाओं को मिला देना और किसी भी स्थिति में उससे अलग न होना—शरणागति योग है। शरणागति से पापी भी पुण्यात्मा बन जाते हैं।

शरणागति का द्वार सबके लिये खुला रहता है। दिन-रात साँसारिक प्रपञ्चों और व्यवहारों में लगे रहनेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परमेश्वर का सहारा लेकर परमगति को प्राप्त कर लेते हैं।

संसार में लिप्त रहनेवाले व्यावहारिक प्राणी से भूल, अपराध और पाप-कर्म होने में देर नहीं लगती। जहाँ धुरन्धर ज्ञानी, ध्यानी और संयमी जन भी पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं; वहाँ स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को सरलता से पाप घेर सकते हैं।

स्त्री, वैश्य और शूद्र को पाप प्रायः घेरे ही रहते हैं—

स्त्री—

स्त्री, पुरुष की अर्द्धांगिनी है, उसे सहधर्मिणी कहा जाता है। स्त्री के बिना पुरुष का यज्ञ-यागादि कोई धार्मिक कृत्य पूरा नहीं होता। गृह-कार्य में दक्ष पतिव्रता स्त्री के घर में देवता निवास करके प्रसन्न होते हैं। पतिव्रता स्त्री की शक्ति किसी तपस्वी-महात्मा से कम नहीं होती।

'कीर्तिः श्रीर्वाक्चनारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।'

नारी में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा के रूप में परमेश्वर प्रगट रहते हैं।

महर्षि मनु ने मातृ-शक्ति के चरणों में अपनी श्रद्धा के सुमन चढ़ाते हुए कहा है—

'पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तय ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्याः विशेषत ॥'

घर की श्री सत्कार मान के योग्य—
पुण्य सौभाग्य - निधान।
रक्षा करने योग्य नित्य—
विदुषी महिला गृह-ज्योति समान॥

शक्ति, श्री और शारदा तीन रूपों से स्त्री संसार को बल, सम्पन्नता और कुशलता प्रदान करती है। स्त्री पवित्रता की खान है, कुल की कीर्ति है, दया की मूर्ति है, जगजननी है। अरुन्धती, सुमंगली, साम्राज्ञी, प्रजावती आदि अनेकों शुभ और श्रेष्ठ विशेषणों से स्त्री को अलकृत किया जाता है। स्त्रियाँ सब प्रकार पुण्यशीला और पवित्र हैं।

इन श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ स्त्रियाँ अबला भी कही जाती है। धर्म और अधर्म दोनों का उन पर तुरन्त ही प्रभाव पड़ता है। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसकर उत्पन्न हो जाते है और पाप फैल जाता है। कुल का धर्म, बालकों की शिक्षा तथा उत्थान माताओं के हाथों में है। परमेश्वर की शरण लेने से कोमल चित्त और गृह-कर्मों मे निरत रहनेवाली अबला भी अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होकर धर्म की रक्षा करती हुई परम गति प्राप्त करती है।

गार्गी, चुडाला, मैत्रेयी, अरुन्धती, अनसूया, सावित्री, सीता, द्रौपदी आदि महिलाओं ने परमेश्वर के अनुग्रह से उच्चतम स्थान पाया है। पतिव्रताओ के मुक्त जीवन की गौरव-गाथाएँ धर्मशास्त्रों, पुराणों और इतिहासों के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरों से अंकित है।

वैश्य, शूद्र—

सृष्टि के व्यापार को नियमित और व्यवस्थित करने के लिये वर्णाश्रम-धर्म की योजना अत्यन्त उपयोगी है। ब्राह्मण और क्षत्रियों का जीवन, राष्ट्र के उत्थान और रक्षा के लिये है। वैश्यों का जीवन सत्य और तत्परता से कृषि, गो-रक्षा तथा वाणिज्य के लिये है। शूद्रों का सहज कर्म लोक-सेवा है। सब अपने २ कर्त्तव्य-पालन से मुक्ति पाते हैं।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों का जीवन—त्याग तप और यज्ञमय होता है। निष्काम-कर्म द्वारा वे सदा पवित्र और मुक्त रहते हैं। वैश्यों और शूद्रों से भूल तथा दुरित होने की सम्भावना रहती है, परन्तु परमेश्वर की शरण ले लेने से अथवा राज-मार्ग पर चलने से जीवन सत्य और भक्तिमय बन जाता है और पतन का भय नहीं रहता।

मुक्ति का द्वार सदा सबके लिये खुला है। प्राणिमात्र को उन्नति करने का समान अधिकार है। बादरायण के मत से—'विशेषानुग्रहश्च' परमेश्वर का विशेष अनुग्रह ही उन्नति का साधन है।

सत्य का व्यापार करनेवाले अनेक वैश्यों और शूद्रों ने परमेश्वर के अनुग्रह से उच्च स्थान प्राप्त किया है।

पाप-योनि—

पाप-कर्मों में बँधे हुए नर-नारी पापयोनि कहे जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ऊँच-नीच, धनी-दरिद्री, बलवान्-निर्बल, धार्मिक-अधार्मिक, आस्तिक-नास्तिक कोई हो, पाप-कर्म करनेवाला पाप योनि में पड़ता है। पाप योनि में पड़े हुए नर-नारी भी परमेश्वर का सहारा लेकर मुक्त हो जाते हैं।

भक्ति में कहीं भेदभाव नहीं है। भगवान् सबको समदृष्टि से देखते हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर के शब्द मननीय हैं—

"अजी जिनका नाम लेना भी अनुचित है, जो सब अधमो मे अधम है, उन पाप-योनियो मे भी जिनका जन्म हुआ हो, जो पापोत्पन्न मूढ चाहे पत्थर जैसे मूर्ख हो, परन्तु मुझमे सर्वभावो से दृढ हो, जिनकी वाचा से मेरे गुणानुवाद निकलते हो, जिनकी दृष्टि मेरा ही रूप भोगती हो, जिनका मन मेरा ही सङ्कल्प धारण करता हो, जिनके श्रवण मेरी कीर्ति से रीते न रहते हो, मेरी सेवा ही जिनके सर्वाङ्गो का अलङ्कार है, जिनका ज्ञान विषयो को नही जानता, जिनका ज्ञातृत्व मुझ एक को ही जानता हो, जो इस प्रकार का लाभ हो तो ही जीवन समझते है अन्यथा मरण; हे पाण्डव ! जो सब प्रकार से अपने सब भाव सजीव रखने के हेतु मुझको ही जीवन समझते हो, वे चाहे पापयोनि भी हो, चाहे वेद पढे हुए न हो, परन्तु मुझमे तुलना करते हुए उनकी योग्यता मे कुछ न्यूनता नही रहती।

अतएव इस विषय में अकेली भक्ति ही शोभा देती है और जाति अप्रमाण है। राजाज्ञा के अक्षरो का सिक्का जिस एक चमडे पर पडता है उस चमडे से सब वस्तुएँ मिल सकती है, एव सोना-चाँदी प्रमाण नही है परन्तु राजाज्ञा ही समर्थ है। वही एक चमडा प्राप्त हो जाने से सम्पूर्ण सोना चाँदी मोल मिल सकता है। वैसे ही उत्तमता तभी फलती है, सर्वज्ञता तभी शोभती है जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से भर जाते है। अतएव कुल जाति वर्ण सब वृथा है। हे अर्जुन ! ससार मे मेरी भक्ति से ही कृतार्थता होती है। चाहे जिस भाव से हो, परन्तु मन का प्रवेश मुझमे होना चाहिये और यदि यह बात हो जाय तो पिछले कर्म सब वृथा हो जाते है। जैसे छोटे-छोटे नाले तभी तक नाले कहाते है जब तक गङ्गा के जल तक नही पहुँचते, वहाँ पहुँचते ही वे केवल गङ्गा रूप ही जाते है। अथवा खैर-चन्दन इत्यादि काष्टो का भेद तभी तक होता है जब तक वे इकट्ठे करके अग्नि मे नही डाले जाते, वैसे ही क्षत्रिय-वैश्य-स्त्री अथवा शूद्र अन्त्यज इत्यादि जातियाँ तभी तक भिन्न है जब तक मुझे नही प्राप्त होती। पर जब वे प्रेम से मुझमे मिल जाती हैं तभी जाति और व्यक्ति का कुछ भी निशान नही बच रहता मानो लवण के कण समुद्र में मिला दिये गये हो।"

साधारण से साधारण मनुष्य भी सर्वोच्चपद प्राप्त कर सकता है। धन, बल आदि पार्थिव उपकरणों से नहीं—हार्दिक प्रेम सेवा अथवा भक्ति से जगत् और जगत्पति अपने बन जाते हैं।

३३

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

किम्, पुनः, ब्राह्मणाः, पुण्याः, भक्ताः, राजर्षयः, तथा,
अनित्यम्, असुखम्, लोकम्, इमम्, प्राप्य, भजस्व, माम् ।

पुनः=फिर, पुण्या=पुण्यशील, ब्राह्मणाः=ब्राह्मणों, राजर्षय=राजऋषियों, तथा=तथा, भक्ताः=भक्तों की, किम्=क्या (बात है), इमम्=इस, असुखम्=सुख-रहित, अनित्यम्=नश्वर, लोकम्=लोक को, प्राप्य=प्राप्त होकर, माम्=मेरा भजस्व=भजन करो ।

फिर राज-ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है ।
मेरा भजन कर, तू दुखद नश्वर जगत् में तात है ॥

अर्थ—फिर पुण्यशील ब्राह्मणों, राजऋषियों तथा भक्तों की क्या बात है, इस सुख-रहित नश्वर लोक को प्राप्त होकर मेरा भजन करो ।

व्याख्या—परमेश्वर का आश्रय लेनेवाले सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाते हैं । जाति, पांति, कुल, बड़ाई आदि देखकर परमेश्वर किसी का पक्ष नहीं करता । भाव के अनुसार परमेश्वर के द्वारा सबका उद्धार होता है । पापयोनि में पड़े हुए नीच जन भी भक्ति के सहारे परम सुख-रूप परमेश्वर को पा सकते हैं तो फिर पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजऋषि भक्त का क्या कहना है । वे तो स्वयं ही

पवित्र रहते हैं और गंगा की भांति महासिन्धु में मिलने के लिये अवतरित होते हैं।

पुण्यशील ब्राह्मण

जो अपने सत्कर्मों से संसार को व्यवस्थित रखता है, जो त्याग और तप से अपने और पराये पापों को भस्म करता है, पवित्रता जिसका साथ नहीं छोड़ती और सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि से जिसका तेज निरन्तर बढ़ता है उसे पुण्यशील ब्राह्मण कहते हैं।

ब्राह्मण ब्रह्म में रहकर व्यवहार करता है। शम, दम आदि सम्पत्तियों से उसका ब्रह्म-धन सदा अक्षय रहता है। विद्या, बुद्धि और सद्गुण उसके गौरव के गान गाते-गाते नहीं अघाते। ऐसे पुण्यशील ब्राह्मण, भगवान को सदा प्रिय हैं। लोक उनसे जीवन और सुख के साधन प्राप्त करता है। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ मान-सम्मान का अधिकारी है।

सेवा और त्याग का स्वरूप ब्राह्मण विद्यावान् हो तो परम सौभाग्य की बात है। धूर्त और कपटी विद्यावान् की अपेक्षा पुण्य-कर्म करनेवाले सरल और सच्चे त्यागी बहुत अधिक श्रेष्ठ होते हैं। केवल तप और त्याग से ही ब्राह्मण पूज्य है। त्यागी और तपस्वी श्रेष्ठजनों की सेवा से राष्ट्र उन्नत होता है। सम्पूर्ण विद्यायें त्याग और तप से प्रकट होती हैं। सेवा और त्याग जिसके जीवन का आधार है, वह पुण्यशील ब्राह्मण सदा मुक्त है।

राजऋषि

पुण्यशील ब्राह्मण, राजऋषि और भक्त तीनों से संसार सुखी सम्पन्न और समुन्नत बनता है। राजऋषि अपने जीवन को जनता-जनार्दन की सेवा में सानन्द समर्पित कर देते हैं। राजऋषियों से

देश सुरक्षित रहता है। भगवान् राम ने राजऋषि क्षत्रियों के शस्त्र-धारण करने का एक गम्भीर रहस्य प्रकट किया है—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नाऽऽर्त्तशब्दो भवेदिति ।

क्षत्रिय करता इस हेतु धनुष को धारण।
सुन पड़े विश्व में कहीं न करुणा क्रन्दन ॥

संसार के दुःखों को निर्मूल करके अपनी शक्ति से जनता-जनार्दन की सेवा करनेवाला क्षत्रिय जीवन-मुक्त होता है।

जिस देश में पुण्यशील ब्राह्मण राजऋषि और भक्तजन निवास करते हैं उसमें साक्षात् स्वर्ग का सुख सुलभ हो जाता है, नित्य नये मंगल मोद की वृद्धि होती है। भागीरथी के समान पुण्य कर्मों की धारा निरन्तर प्रवाहित होती है। वृद्धि, ऋद्धि, सिद्धि और धर्म उस देश में सदा निवास करते हैं।

यद्यपि पुण्यवान् ब्राह्मण राजऋषि और भक्त सदा मुक्त रहते हैं परन्तु संसार दुःख का घर और नश्वर है। मृत्युलोक में पग-पग पर संकट हैं। यहाँ सर्वत्र माया का जाल बिछा रहता है। जैसे छेदों वाली नाव में बैठनेवाले को डूबने का भय नहीं छोड़ता, वैसे ही संसार-सागर में नौ द्वारों के तन वाला सदा सशंकित और भयभीत रहता है। अतः किसी भी क्षण भजन का सहारा नहीं छोड़ना चाहिये।

सन्त ज्ञानेश्वर के शब्दों में—'जहाँ शस्त्रों की वर्षा हो रही हो वहाँ शरीर खुला क्यों रखना चाहिये? शरीर पर पत्थर गिर रहे हों तो ढाल क्यों न आगे करनी चाहिये? रोग लग जाने पर औषधि से उदासीन क्यों रहना चाहिये? उसी प्रकार सुख-दुःखों से युक्त मृत्युलोक में आकर मेरा भजन क्यों न करना चाहिये? अजी मुझे

न भजो तो तुम्हारे पास बल ही क्या है ? घर-बार, विषय-विलास आदि मे कौनसी बात है जिसके भरोसे मनुष्य आनन्द-पूर्वक निश्चित रह सके ? क्या विद्या और यौवन से सुख का भरोसा हो सकता है ? उपभोग की जितनी वस्तुएँ है वे केवल शरीर के चगेपन पर निर्भर है परन्तु शरीर तो सदा काल के गाल मे पडा रहता है। इस मृत्युलोक मे जन्म-मरण का ऐसा बाजार लगा हुआ है जिसमे प्रबल दु ख रूपी माल चारों तरफ खुला पडा है और मृत्यु रूपी माल की गठरियाँ बराबर चली आ रही है तो फिर यहाँ सुख का सौदा कैसे किया जा सकता है ? अगारों की शय्या पर कौन सुख से सो सकता है ? अत तुम भक्ति के मार्ग पर चलो जिससे तुम्हें मेरा अविनाशी निजधाम प्राप्त हो जायगा।"

जो आज है वह कल नहीं रहेगा। मृत्युलोक मे सब कुछ अनिश्चित है, केवल शुभ कर्म-रूप भजन से मुक्ति निश्चित है। मनुष्य का शरीर मुक्ति का साधन है। यह शरीर दैवी वंशी है, इसके प्रत्येक स्वर मे देवताओं का मनोहर सगीत भरा है। अत इसे ऐसा निर्मल रखना चाहिये कि देवता अपने मुख से लगाकर अपनी मधुर ध्वनि को गुञ्जा सकें।

यह शरीर मुक्ति धाम तक पहुँचाने के लिये दिव्य रथ है, इसमे अन्त करण के चार वेगवान घोडे लगे है। यह शरीर भवसागर को पार करने के लिये दिव्य नैया है परमेश्वर इसका खिवैया है, अत इस शरीर को उसके हाथों मे सौंप देना ही सुख समुन्नति और सुरक्षा का सर्वोत्तम साधन है। इसीलिये राजमार्ग का अन्तिम आदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा –

३४

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

मन्मनाः, भव, मद्भक्तः, मद्याजी, माम्, नमस्कुरु, माम्, एव, एष्यसि, युक्त्वा, एवम्, आत्मानम्, मत्परायणः ।

मन्मनाः=मुझमें मनवाला, भव=हो, मद्भक्तः(भव)=मेरा भक्त (बन), मद्याजी (भव)=मेरा यजन करनेवाला (हो), माम्=मुझे, नमस्कुरु=नमस्कार कर, एवम्=इस प्रकार, आत्मानम्=आत्मा को, युक्त्वा=युक्त करके, मत्परायणः=मेरे परायण हुआ (तू) माम्=मुझे, एव=ही, एष्यसि=प्राप्त होगा ।

मुझमें लगा मन, भक्त बन, कर यजन पूजन वन्दना ।
मुझमें मिलेगा, मत्परायण युक्त आत्मा को बना ॥

अर्थ—मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा यजन करनेवाला हो, मुझे नमस्कार कर, इस प्रकार आत्मा को युक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा ।

व्याख्या—परमेश्वर सुख रूप है; जगत् दुःखमय है। दुःख में अनन्त सुख का अनुभव करने का एकमात्र उपाय भक्ति है। भक्ति के साधनों को संक्षेप में बताते हुए श्रीकृष्ण ने चार आदेश दिये हैं—

१—मुझमें मन लगानेवाला हो।

२—मेरा भक्त बन।

३—मेरा पूजन करनेवाला हो।

४—मुझे नमस्कार कर।

१. मुझमें मन लगानेवाला हो—

श्रीकृष्ण गीता मे प्रथम पुरुष के रूप में बोलते हैं। उनका जन्म और कर्म दिव्य है। श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष हैं। पुरुषोत्तम रूप से उन्होंने अर्जुन को गीता का सन्देश दिया है। अर्जुन ने पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण को गुरु वरण करके उनकी शरण ली है। श्रीकृष्ण ने ब्रह्म-पद से गुरुवाणी मे अर्जुन को उपदेश दिया है और अर्जुन ने अपने हृदय को परमेश्वर के अवतरण का पवित्र धाम बना लिया है।

मुझमे मन लगाने का व्यापक भाव—ब्रह्म मे मन लगाना है। ब्रह्म को निर्गुण अथवा सगुण कुछ भी माना जाय, उसकी प्राप्ति उसमे मन लगाये बिना नहीं होती।

निर्गुण ब्रह्म मे मन लगाना कठिन है। अत. साधना के लिये ब्रह्म का सगुण रूप उपयुक्त माना गया है।

मन लगाने का अर्थ है—परमेश्वर मे अपने मन को मिला देना अथवा दैवी गुणों को धारण करके मन से कर्म करना। मन को तदाकार करना अत्यन्त कठिन कार्य है। मन स्वभाव से ही चंचल है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, योग आदि अनेकों साधन मन की चंचलता मिटाने के लिये ही हैं। भक्ति से परमेश्वर के किसी रूप मे मन सरलता से लग जाता है। जैसे भी हो मन को व्यर्थ के दु खदायी और नश्वर विषय-भोगों तथा वस्तुओं से हटाकर परमेश्वर मे लगाना चाहिये। 'मामनुस्मर युद्धय च' का भाव मन को परमेश्वर मे लगाने से पूरा होता है। परमेश्वर का सदा ध्यान रखना भजन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। ऐसा करने के लिये गीता का दूसरा आदेश है।

२. मेरा भक्त बन—

भक्ति की शक्ति सर्वोपरि है। भक्ति से शक्तियाँ प्रकट होती हैं। भक्त अपने सेवा, त्याग, तप आदि कर्मों द्वारा परमेश्वर को सदा साथ रखता है। भक्त के सब कर्म, नियम और व्यवस्था से होते हैं। वह अपने लिये अपने प्रभु को कष्ट नहीं देता वरन् प्रभु की सेवा के लिये परम पुरुषार्थ करता है।

भक्त होने के लिये भगवान् का पूजन एक पवित्र साधन है।

३. मेरा पूजन करनेवाला हो—

प्रत्येक कर्म से परमेश्वर का पूजन करना सब साधनों का ध्येय है परन्तु यह दुष्कर है, अतः ऐसा अभ्यास बनाने के लिये पवित्र होकर परमेश्वर के पूजन-भजन का सहारा लेना चाहिये। पूजा, भजन और ध्यान से आत्म-बल, आत्म-विश्वास और आत्म-संयम बढ़ता है।

पूजा का एक आवश्यक और उत्तम अंग नमस्कार करना है—

४. मुझे नमस्कार कर—

नमस्कार करने से विनम्रता आती है, नमन से दोष दूर होते हैं, अभिमान सिर नहीं उठाता, सब प्रसन्न रहते हैं और सात्त्विक गुणों का विकास होता है। भगवान् को नमस्कार करनेवाला अपना भार हलका करके निर्भय, सुखी तथा सन्तुष्ट रहता है और परमेश्वर में उसका विश्वास निरन्तर बढ़ता है। नमस्कार करनेवाले के सिर पर परमेश्वर का हाथ रहता है।

यही जीवन्मुक्ति है। परमेश्वर सब प्रकार भक्त का योगक्षेम करता है, क्योंकि वे परमेश्वर का काय करते हैं। भक्ति का यह रहस्य ही राजविद्या है। जो इसे धारण करता है वह सब सुख पाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य गीताज्ञान का
नवाँ अध्याय राजविद्या-रहस्ययोग सम्पूर्ण।

गीतावाचस्पति म० दीनानाथ भार्गव दिनेश द्वारा

गीता का भाष्य

गीताज्ञान

नया संस्करण दो खण्डों मे प्रकाशित हो गया है।

प्रथम खण्ड में १ से ९ अध्याय तक

द्वितीय खण्ड मे १० से १८ अध्याय तक

दोनों खण्डों का मूल्य ३५), डाकव्यय ३) अलग

❦

सहायता और प्रकाश के लिये गीता के पास आना

इस भाष्य का विशेष ध्येय है।

❦

गीता के इस नवीनतम भाष्य को पढ़कर आपको गीता के स्वाध्याय ा आनन्द मिलेगा, गीता के गम्भीर रहस्य खुलेंगे और एक व्यावहारिक ीवनयोग मिलेगा।

गीताज्ञान के प्रसार और प्रचार से ही आज के जड़वादी युग में ातिकता और मानवता की प्रतिष्ठा होनी सम्भव है।

आप अपने प्रियजनों, परिजनों और साथियों को गीताज्ञान उपहार ं दीजिये।

मानवधर्म कार्यालय, ६७१३ दरियागंज, दिल्ली

दूरभाष : २७५४१३

मानवधर्म का ध्येय

धार्मिक पूर्णोदय, रचनात्मक प्रगति और सक्रिय आध्यात्मिकता की निष्काम अभिलाषा से सत्त्वसंशुद्धि और सजग सेवा का व्रत लेकर मानवधर्म आगे आया।

मानवधर्म परिवार ने 'मानवधर्म' मासिक पत्र के द्वारा २८ वर्षों तक निरन्तर धर्म की जो सेवा की उससे पाठक परिचित हैं। बहुत अधिक साधन-सम्पन्न न होते हुए भी हम धर्मसाधना में जुटे रहे।

अब धनबल, जनबल और संगठन बहुत ही शिथिल पड़ गया है और प्रकाशन सम्बन्धी कठिनाई तथा महँगाई बुरी तरह बढ़ रही है। परिस्थितियों ने हमें इतना दबाया कि हम 'मानवधर्म' मासिक पत्र का प्रकाशन चालू नहीं रख सके।

मानवधर्म त्रैमासिक पुस्तक रूप में

मार्च १९६९ के मानवधर्म में हमने घोषणा कर दी कि अब मानवधर्म पुस्तकरूप में प्रत्येक तीसरे महीने प्रकाशित होगा। एक वर्ष में चार मानवधर्म माला की पुस्तकें पाठकों की सेवा में हम भेजेंगे! डाकव्यय सहित वार्षिक मूल्य केवल १०) होगा।

जो पाठक वार्षिक ग्राहक न बनकर केवल कोई पुस्तक चाहेंगे उन्हें अलग-अलग पुस्तकें भी प्राप्त हो सकती हैं।

जो पाठक १०) वार्षिक शुल्क भेज चुके हैं उन्हें योजना के अनुसार हर तीसरे महीने एक पुस्तक मिलती रहेगी। यदि वे पुस्तकें न लेना चाहें तो अपनी इच्छानुसार मानवधर्म के पिछले विशेषांक ले सकते हैं।

हमारे सभी विशेषांकों में स्थायी जीवनोपयोगी सामग्री है जो सदा नई रहेगी। पाठकों को उनके स्वाध्याय से अवश्य ही प्रसन्नता होगी और जीवनयोग मिलेगा।

कुछ ही समय में हमारी व्यवस्था ठीक हो जाने की आशा है, तब हम प्रत्येक तीसरे महीने पाठकों को अच्छे से अच्छा मौलिक जीवनोपयोगी साहित्य देने का प्रयत्न करेंगे।

आपके हार्दिक सहयोग के लिये धन्यवाद। आशा और विश्वास सहित—

—दीनानाथ दिनेश